शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास

संगीता सिंह

प्रस्तुत पुस्तक 'शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास 600 ई. से 1200 ई.' तक लेखिका का मूलतः शोध-प्रबन्ध था, जिसे पुस्तक का स्वरूप प्रदान किया गया है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। पुस्तक में शूरसेन जनपद के नामकरण के उल्लेख के साथ-साथ महावीर युग से लेकर बारहवीं शती. ई. तक जैन धर्म के क्रमागत विकास का वर्णन किया गया है। जैन धर्म एवं कला को विभिन्न युगों में प्राप्त होने वाले राजकीय लोगों के प्रोत्साहन और संरक्षण तथा धार्मिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि का भी उल्लेख किया गया है।

शूरसेन जनपद में जैन धर्म के प्रमुख केन्द्रों का उल्लेख है जैसे — कंकाली टीला, सोंख, शौरिपुर, बटेश्वर, अंरिग आदि से जैन कला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा और मथुरा कला विविधताओं से भरी हुई है, जिसको किसी एक ग्रन्थ में उचित रूप से पिरोना कठिन कार्य है किन्तु इस ग्रन्थ में मूर्तिकला के साथ-साथ वास्तु-कला, सांस्कृतिक उन्नति, भाषा-साहित्य तथा ललित कला पर भी प्रकाश डाला गया है, जो कठिन श्रम और लगन को दर्शाता है।

छाया-चित्र भी वास्तविक और अंकन भी महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ जैन धर्म और कला के विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं विद्वानों को अवश्य ही लाभान्वित करेगा।

प्रो. जे. एन. पाल
प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास

शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास

संगीता सिंह

रिसर्च इंडिया प्रेस
नई दिल्ली

© लेखक

ISBN : 978-81-89131-89-0

प्रथम संस्करण : 2014

प्रकाशक :
रिसर्च इंडिया प्रेस
ई-6/34, संगम विहार
नई दिल्ली-110062
दूरभाष : 011-26047013, मोबाइल : 9818085794
E-mail: researchindiapress@gmail.com

टाईपसैटिंग
जी. आर. शर्मा
मो. : 9968281826

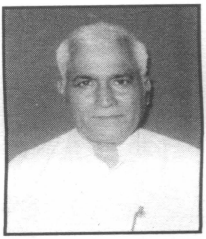

पूज्य स्वर्गीय पिता जी

राम कृपाल सिंह

एवं

पूज्यनीय माता जी

श्रीमती कालिका देवी

के चरणों में सादर समर्पित

विषय सूची

आमुख		*xi*
आभार		*xiii*
पुरोवाक्		*xvii*
चित्र-सूची		*xix*
अध्याय प्रथम	: **विषय का महत्व एवं अध्ययन स्रोत** (क) साहित्यिक स्रोत (ख) पुरातात्विक स्रोत	1
अध्याय द्वितीय	: **शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास**	24
अध्याय तृतीय	: **शूरसेन जनपद में जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र**	48
अध्याय चतुर्थ	: **शूरसेन जनपद में जैन मूर्तिकला**	71
अध्याय पंचम्	: **शूरसेन जनपद में जैन वास्तुकला**	102
अध्याय षष्टम्	: **शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति**	119
अध्याय सप्तम्	: **शूरसेन जनपद में जैनधर्म का योगदान : भाषा, साहित्य, दर्शन एवं ललितकला**	139
अध्याय अष्टम्	: **उपसंहार**	165
संदर्भ ग्रन्थ सूची		173
छाया चित्र		199

आमुख

जैन धर्म भारत में श्रमण संस्कृति का वह महत्वपूर्ण अंग है जो प्राचीन काल से आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है। समय एवं विपरीत परिस्थितियों के अनेक थपेड़े सहकर भी जैन मतावलम्बियों ने अपनी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित एवं संरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया और भारतीय संस्कृति के बहुमुखी विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

शूरसेन जनपद प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदों में एक प्रमुख जनपद था जिसकी राजधानी मथुरा थी। भगवान कृष्ण के जन्म स्थान के कारण मथुरा को भारत की हृदय-स्थली स्वीकार किया गया है।

शूरसेन जनपद में जैनधर्म का विकास महावीर युग से लेकर बारहवीं शताब्दी तक का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। जैन धर्म का विकास कला एवं साहित्य के द्वारा ज्ञात होता है। पुरातात्विक अवशेषों के अध्ययन से शूरसेन जनपद में जैन धर्म की समुन्नत स्थिति ज्ञात होती है।

मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित जैन कलाकृतियों के अध्ययन से जैन धर्म का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में कुल आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में विषय के महत्व पर प्रकाश डाला गया है तथा साथ ही अध्ययन स्रोत की भी चर्चा की गई है। विषय का महत्व इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है कि शूरसेन जनपद सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध रहा है। सर्वप्रथम मथुरा कला शैली के अन्तर्गत जैन प्रतिमाओं में लांछन उत्कीर्ण किया गया है जिससे प्रतिमाओं को चिन्हित किया जा सकता है।

अध्ययन स्रोत में पुरातात्विक एवं साहित्यिक साधनों का प्रयोग किया गया है तथा साथ ही साथ विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृतान्तों का भी प्रयोग किया गया है।

द्वितीय अध्याय में शूरसेन जनपद में जैन धर्म के क्रमागत विकास का उल्लेख किया गया है। जैन धर्म एवं कला को विभिन्न युगों में प्राप्त होने वाले राजकीय लोगों के प्रोत्साहन और संरक्षण तथा धार्मिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि पर चर्चा की गई है।

तृतीय अध्याय में शूरसेन जनपद में जैन धर्म के प्रमुख केन्द्रों का वर्णन है जिसमें कंकाली टीला, सोंख, शौरीपुर, बटेश्वर आदि केन्द्रों से प्राप्त जैन कलाकृतियों का काल परिचय एवं साथ ही साथ कलात्मक महत्व भी वर्णित है। इन केन्द्रों से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में जैन धर्म सामान्य जन का धर्म था।

चतुर्थ अध्याय में शूरसेन जनपद में जैन मूर्तिकला का वर्णन किया गया है। स्थान-स्थान पर जैन मूर्तिकला का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। जैन मूर्तिकला में ऐतिहासिक सर्वेक्षण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। मथुरा कला शैली को भी उल्लिखित किया गया है।

पंचम अध्याय में जैन वास्तुकला पर प्रकाश डाला गया है। शूरसेन जनपद में जैन वास्तुकला के अवशेष अत्यल्प मात्रा में प्राप्त हुए हैं परन्तु स्तूप निर्माण के क्रम में देव निर्मित स्तूप का वर्णन किया गया है। शूरसेन जनपद के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त जैन वास्तुकला के क्रमागत विकास की चर्चा की गई है।

षष्टम् अध्याय में शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। जैन संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक दशा एवं आर्थिक दशा के साथ ही साथ सांस्कृतिक उन्नति को भी उल्लिखित किया गया है।

सप्तम् अध्याय में शूरसेन जनपद में जैन धर्म के योगदान के अन्तर्गत दर्शन भाषा, साहित्य एवं ललित कला का अध्ययन दृष्टव्य है। जैन धर्म के महत्वपूर्ण योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

अष्टम् अध्याय उपसंहार में उपर्युक्त अध्यायों का निष्कर्ष निकाला गया हैं यह निष्कर्ष क्रमागत अध्याय के अनुसार वर्णित है।

बसन्त पंचमी
15 फरवरी 2013
कानपुर

संगीता सिंह

आभार

बुद्धकालीन षोड्स महाजनपदों में शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास कला एवं संस्कृति के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा थी। कालान्तर में शूरसेन के स्थान पर मथुरा ही जन सामान्य की जिह्वा पर विद्यमान रही। इस शोध कार्य में शूरसेन जनपद का सूक्ष्म अध्ययन करने का प्रयास किया गया है जिसमें प्रतिष्ठित विद्वानों एवं आत्मीय स्वजनों का सहयोग अमूल्य रहा है।

सर्वप्रथम मैं अपने गुरु श्रेष्ठ डॉ. आर. के. पॉल, (सेवानिवृत्त), विभागाध्यक्ष (इतिहास), क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर का हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। शोध कार्य के आरम्भ से समापन तक सतत उत्साहवर्द्धन एवं विभिन्न समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करने के लिए आपके प्रति कृतज्ञ हूं। साथ ही मैं गुरु माता श्रीमती जे. एल. पॉल के प्रति भी आभारी हूँ, जिन्होंने हर सम्भव मेरा सहयोग किया तथा सदैव मातृवत स्नेह प्रदान किया।

राज्य संग्रहालय लखनऊ के निदेशक (सेवानिवृत्त) आदरणीय श्री जितेन्द्र कुमार के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने अमूल्य एवं विद्वतापूर्ण दिशा-निर्देश प्रदान कर शोध कार्य को पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया। आपसे सदैव स्नेहिल सहयोग प्राप्त होता रहा है। आपने पुस्तक का पुरोवाक् लिखने की प्रार्थना स्वीकार किया फलत : कोटिश : धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

इसी क्रम में सम्माननीय विद्वान प्रो. जे. एन. पाल, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति नतमस्तक हूं जिन्होंने इस पुस्तक के सन्दर्भ में अपनी लेखनी चलाने की मेरी प्रार्थना स्वीकार की।

राज्य संग्रहालय लखनऊ के सह निदेशक (सेवानिवृत्त) पितृ तुल्य श्री आई. पी. पाण्डेय के प्रति आभारी हूं जिन्होंने शोध सामग्री उपलब्ध कराई। आपका विद्वतापूर्ण परामर्श और पित्रवत स्नेह समान रूप से प्राप्त होता रहा है।

शोध कार्य की पूर्णाहूति करने में डॉ. बी. सी. रावत, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, डॉ. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, लखनऊ का अमूल्य सहयोग रहा है। शोध-सामग्री एवं महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश प्रदान करने के लिए हृदय से नमन करती हूं। आपने शोध-प्रबन्ध को पुस्तक का स्वरूप प्रदान करने की प्रेरणा प्रदान की और हरसम्भव सहयोग किया।

अन्य विद्वान मनीषियों में मथुरा के सह-निदेशक डॉ. एस. पी. सिंह, स्व. डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी, डॉ. शशिकान्त जैन, डॉ. हनुमान भाई, वाराणसी और डॉ. जगपाल सिंह भाई, नई दिल्ली आदि विद्वानों के प्रति मैं आभारी हूं, जिन्होंने शोध कार्य में विविध प्रकार के परामर्श एवं सहयोग प्रदान कर मुझे लाभान्वित किया।

मैं पूज्य पिताजी स्व. श्री रामकृपाल सिंह, पूज्य माता जी श्रीमती कालिका देवी, अग्रज डॉ. प्रणवीर प्रताप सिंह, सांख्यिकी अधिकारी, गोरखपुर वि. वि., अनुज प्रबल प्रताप सिंह, पत्रकार, अमर उजाला कानपुर और अग्रजा श्रीमती राजनीता सिंह, प्रधानाचार्य, बी. आई. डी. मेमोरियल स्कूल, महाराजगंज आप सभी को हृदय से नमन करती हूं। आप सभी के स्नेह, धैर्य, प्रेरणा एवं आत्मीय सहयोग से यह शोध कार्य अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सका। शोध कार्य के दौरान आप सभी ने मेरा उत्साहवर्द्धन किया और कदम-कदम पर शोध कार्य को शीघ्र पूर्ण करने के लिए मुझे आत्मिक, मानसिक एवं भावनात्मक रूप से आत्मबल प्रदान किया।

मेरे पति मनीष सिंह का सहयोग भी आभार योग्य है, अतः आपको धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

अन्त में इस पुस्तक के प्रकाशक श्री सुमन पाठक को धन्यवाद देती हूं, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार उठाकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया।

विनयावनत्

संगीता सिंह

पुरोवाक्

प्राचीन काल से ही भारतीय जन-जीवन में धर्म का प्रमुख स्थान रहा है। शूरसेन जनपद का उल्लेख षोड्स महाजनपदों में किया गया है। मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी। यह जनपद वैदिक, बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रमुख केन्द्र रहा है। धर्म प्रचार-प्रसार के साथ-साथ धार्मिक अनुष्ठानों के निमित्त उनके अनुयायियों ने कुछ ऐसी स्थायी वस्तुओं का निर्माण करने का निर्णय लिया, जिनसे उनका धर्म युग-युगान्तर तक चिर-स्थायी रहे। इसी सन्दर्भ में गुफाओं, स्तूपों, मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण किया गया।

जैन धर्म की प्रथम प्रामाणिक प्रतिमा मौर्यकाल की मानी जाती है, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई है। इसी क्रम में कंकाली टीला, मथुरा से (150 ई. पू. से 1023 ई.) की जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी विशेषताएं इस पुस्तक में उल्लिखित हैं।

तीर्थंकर ऋषभदेव की लटकती जटा, पार्श्वनाथ के सात सर्पफण, जिनों के वक्ष पर वत्स और शीर्ष पर उष्णीष निर्मित करने का श्रेय मथुरा कला को ही जाता है। मथुरा कला के अन्तर्गत ही प्रतिमाओं का अंकन ध्यानमुद्रा में प्रारम्भ हुआ इससे पूर्व प्राप्त प्रतिमाओं में जो लोहानीपुर, चौसा की है, उनमें जिन कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। प्रतिमाओं में लाछनों के साथ-साथ यक्ष-यक्षी युगलों का चित्रण भी सर्वप्रथम शूरसेन जनपद में ही प्रारम्भ हुआ। कंकाली टीला, मथुरा से प्राप्त जैन पुरातत्व का वर्णन भी इस पुस्तक में किया गया है।

श्री कृष्ण के जन्म स्थान के कारण मथुरा को भारत की हृदय-स्थली स्वीकार किया गया है। शूरसेन जनपद में जैन वास्तुकला के अवशेष अत्यल्प

मात्रा में प्राप्त हुए हैं, परन्तु स्तूप निर्माण के क्रम में देव निर्मित स्तूप का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में शूरसेन जनपद के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त प्रतिमाओं एवं स्थापत्य कला के क्रमागत विकास का भी उल्लेख किया गया है।

शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक-आर्थिक दशा के साथ ही साथ सांस्कृतिक उन्नति को भी उल्लिखित किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक आठ अध्यायों में विभक्त है जिसमें सूक्ष्म अध्ययन दृष्टव्य होता है। जैन पुरावशेष के छाया-चित्र भी प्रशंसनीय है। लेखन शैली प्रवाहशील है। यह पुस्तक विद्वत समाज एवं शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। उज्जवल भविष्य की कामना के साथ।

जितेन्द्र कुमार (सेवानिवृत्त)
निदेशक, राज्य संग्रहालय
लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत

चित्र-सूची

1. नीलान्जना पट्ट : द्वितीय शती ई. पू., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक J 354
2. जैन आयागपट्ट : प्रथम शती ई. पू., मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 250
3. हरिनैगमेषी : प्रथम शती ई., मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 00.E2
4. शिवयशा का आयागपट्ट : प्रथम शती ई. कंकाली टीला, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, J 255।
5. अमोहिनी का आयागपट्ट : संवत् 72-15 ई., कंकाली टीला, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 1
6. स्तूप युक्त आयागपट्ट : प्रथम शती ई., कंकाली टीला (मथुरा), राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, Q 2।
7. कायोत्सर्ग सर्वतोभद्रिका : प्रथम शती; अज्ञात, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 00B.67 ।
8. तीर्थंकर प्रतिमा की चौकी : 127 ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, J 20।
9. जैन सरस्वती : 132 ई.; कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 24।

10. चक्रयुक्त आयागपट्ट : प्रथम शती ई., कंकाली टीला, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 248
11. तोरण द्वार : पूर्व कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक J 567।
12. तोरण द्वार (सामने का दृश्य) : पूर्व कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 535।
13. जैन तीर्थंकर नेमिनाथ : कुषाण काल, अज्ञात, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 34.2488।
14. कायोत्सर्ग अरिष्टनेमि : कुषाण काल, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 8
15. ध्यानस्थ नेमिनाथ : कुषाण काल, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 117
16. ध्यानस्थ नेमिनाथ : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 6।
17. जैन प्रतिमा : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय लखनऊ, क्रमांक, J 623।
18. जैन-त्रिरत्न : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 659।
19. जैन स्थापत्य खण्ड : कुषाण काल (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, B 207।
20. ध्यानस्थ तीर्थंकर : कुषाण काल, मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, OOB.63
21. हरिनैगमेषी : कुषाण काल, मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक 2547।
22. ध्यानस्थ तीर्थंकर : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 15।

23. तीर्थंकर मस्तक : कुषाणकाल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 194।

24. ध्यानस्थ पार्श्वनाथ : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 39।

25. ध्यानस्थ तीर्थंकर : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 686।

26. छत्र सहित कायोत्सर्ग सर्वतोभद्रिका : कुषाण काल, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, J 235।

27. तीर्थंकर मस्तक : कुषाण काल, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 172।

28. तीर्थंकर मस्तक : कुषाण काल, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 169।

29. कायोत्सर्ग सर्वतोभद्रिका : कुषाण काल, कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 230।

30. पार्श्वनाथ मस्तक : कुषाण काल, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 96।

31. कायोत्सर्ग नेमिनाथ : 5वीं शती ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 121।

32. ध्यानस्थ तीर्थंकर : 5वीं शती ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 118।

33. तीर्थंकर ऋषभनाथ : गुप्तकाल, अज्ञात, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 00B.33।

34. कायोत्सर्ग ऋषभनाथ : गुप्तकाल, मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 12.268।

35. सिर विहिन ऋषभनाथ : गुप्तकाल, मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, B.24।

36. ध्यानस्थ तीर्थंकर : 5वीं शती ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 104।
37. ध्यानस्थ तीर्थंकर : 5वीं शती ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 119।
38. ध्यानस्थ पार्श्वनाथ : 981 ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 143।
39. ध्यानस्थ पार्श्वनाथ : 10वीं शती ई., कागारोल (आगरा), राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 40.2874।
40. ध्यानस्थ सर्वतोभद्रिका : 11वीं शती ई., कंकाली टीला (मथुरा), राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक, J 236।
41. ध्यानस्थ नेमिनाथ : 12 वीं शती ई., मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, क्रमांक, 00B.77।
42. ध्यानस्थ तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ : 12वीं शती ई., आगरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक J 776।

अध्याय प्रथम

विषय का महत्व एवं अध्ययन स्रोत

छठी शताब्दी ई.पू. न केवल भारतवर्ष के लिए वरन् समस्त विश्व के लिए बौद्धिक एवं धार्मिक क्रान्ति का युग रहा है मानव की जिज्ञासा एवं तर्कशीलता ने नवीन विचारों को जन्म दिया। यह वह युग था जब यूरोप के साथ-साथ भारत में भी लोग प्राचीन व्यवस्था की प्रामाणिकता, धार्मिक क्रिया – विधियों, पुरोहितों की असीमित शक्ति और सुविधाओं तथा मरणासन्न संस्कृति के प्राणघातक भार के विरुद्ध थे।

ईरान के जरस्थ्रु, यूनान में पाइथागोरस और चीन में कन्फ्यूशियस ने नवीन विचारों का प्रतिपादन किया। इसी क्रम में भारतीय धार्मिक क्रान्ति के अग्रदूत महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध थे।

भारत में जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड पर समान रूप से प्रहार किया। दोनों धर्मों को तत्कालीन राजाश्रय प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म ने जहां अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त किया, वहीं जैन धर्म आज भी भारत में अपना अस्तित्व बनाये हुए है। छठी शताब्दी ई. पू. में जैन धर्म को महावीर स्वामी ने भारत के कोने-कोने तक पहुंचाया।

छठी शताब्दी ई. पू. में भारतवर्ष षोड्स महाजनपद में विभक्त था जिनमें से एक शूरसेन जनपद भी था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। शूरसेन जनपद यमुना नदी के किनारे स्थित था।

जिनसेन के महापुराण के अनुसार भगवान ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने भारत को बावन जनपदों में विभाजित किया था जिसमें शूरसेन का नाम भी उल्लिखित है।[1]

जनपद का नाम शूरसेन तथा उसकी राजधानी मथुरा का महत्वपूर्ण स्थान है। शूरसेन जनपद को 'ब्रह्मर्षिदेश' के अन्तर्गत माना गया है।[2] ब्रह्मर्षिदेश एवं ब्रह्मावर्त को प्राचीन समय में बहुत ही पवित्र माना जाता था और यहां के निवासियों का आचार-विचार श्रेष्ठ एवं आदर्शरूप माना जाता था।[3]

मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी। इसकी स्थापना राम के भाई शत्रुघ्न ने की थी। शत्रुघ्न के एक पुत्र का नाम शूरसेन था जिसके नाम पर इस देश का नाम शूरसेन पड़ा।[4] शत्रुघ्न ने मधुवन में यादव लवन को मारकर और जंगल को काटकर इस जनपद की स्थापना की थी।[5]

शूरसेन जनपद के उत्तर में कुरूदेश (आधुनिक दिल्ली और उसके आसपास का प्रदेश) था, जिसकी राजधानी इन्दप्रस्थ तथा हस्तिनापुर थी। दक्षिण में चेदि राज्य (आधुनिक बुन्देलखण्ड तथा समीप का कुछ भाग) था, जिसकी राजधानी सूक्तिमति थी। शूरसेन जनपद के पूर्व में पांचाल राज्य आधुनिक रूहेलखण्ड था, जो दो भागों में बंटा था। उत्तर पांचाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा बरेली जिले में वर्तमान रामनगर और दक्षिण पांचाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य (आधुनिक कम्पिल, जिला फर्रूखाबाद) थी। पश्चिम में मत्स्य जनपद (आधुनिक अलवर रियासत तथा जयपुर का पूर्वी भाग) था। इसकी राजधानी विराट नगर (वर्तमान वैराट), जयपुर में थी।[6]

शूरसेन जनपद की यह संज्ञा ईसवी सन् के प्रारम्भ तक जारी रही। शूरसेन जनपद पर विदेशी शक-कुषाणों के अधिकार करने के बाद जनपद की संज्ञा उसकी राजधानी के नाम पर मथुरा प्रचलित हो गई। वराहमिहिर ने भी मध्यदेश के जनपदों की गणना करते समय 'माथुरक' तथा 'शूरसेन' का उल्लेख किया है।[7]

जैन 'हरिवंश पुराण' में प्राचीन भारत के अट्ठारह महाराज्यों का उल्लेख किया गया है, उसमें शूरसेन प्रदेश और उसकी राजधानी मथुरा का नाम भी उल्लेख है।

मथुरा नगरी जैन धर्म के साथ-साथ वैष्णव एवं बौद्ध धर्म की प्रमुख केन्द्र रही है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव की आधार शिलाएं इसकी सात महापुरियां हैं। मथुरा की गणना सप्त महापुरियों में की गई है। सप्त महापुरियों के नाम इस प्रकार हैं– अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका और द्वारिका।[8] पद्मपुराण में मथुरा का महत्व सर्वोपरि मानते हुए कहा गया है कि यद्यपि काशी आदि सभी पुरियां मोक्षदायिनी हैं, तथापि मथुरापुरी धन्य है। यह पुरी देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।[9] इसी का समर्थन 'गर्गसंहिता' में करते हुए बतलाया है कि पुरियों की रानी कृष्णपुरी मथुरा ब्रजेश्वरी, यज्ञ-तपोनिधियों की ईश्वरी है। यह मोक्षदायिनी धर्मपुरी मथुरा नमस्कार योग्य है।[10]

शूरसेन प्रदेश की राजधानी मथुरा की भौगोलिक सीमा समय-समय पर परिवर्तित होती रही। 'वाराह पुराण'[11] में मथुरामण्डल का विस्तार 20 योजन बताया गया है। 'वायु पुराण'[12] में इसका विस्तार 40 योजन कहा गया है। एक योजन चार कोस अथवा सात मील का होता है, अतः ब्रजमण्डल का विस्तार चौरासी कोस का माना गया।

विद्वान कृष्णदत्त वाजपेयी[13] ने लिखा है कि वर्तमान मथुरा तथा उसके आस-पास का प्रदेश जिसे ब्रज कहा जाता है, प्राचीन काल में 'शूरसेन' जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी सीमाएं समय-समय पर बदलती रहीं। कालान्तर में मथुरा नाम से ही यह जनपद विख्यात हुआ।

सातवीं शती में जब चीनी यात्री ह्वेनसांग मथुरा आया तो उसने लिखा कि मथुरा राज्य का विस्तार पांच हजार ली (लगभग आठ सौ तैंतीस मील) था।[14]

इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि सातवीं शती में मथुरा के अन्तर्गत वर्तमान मथुरा – आगरा जिलों के अतिरिक्त आधुनिक भरतपुर तथा धौलपुर जिले और उपरले मध्यभारत का उत्तरी लगभग

आधा भाग रहा होगा। दक्षिण-पूर्व में मथुरा राज्य की सीमा जेजाक भुक्ति की पश्चिमी सीमा से तथा दक्षिण-पश्चिम में मालव राज्य की उत्तरी सीमा से मिलती रही होगी। सातवीं शती के बाद से मथुरा राज्य की सीमाएं घटती गई। इसका प्रधान कारण समीप के कन्नौज राज्य की उन्नति थी, जिसमें मथुरा तथा अन्य पड़ोसी राज्यों के बड़े भू-भाग सम्मिलित हो गए।[15]

श्री कनिंघम का अनुमान है कि मथुरा के पश्चिम में भरतपुर और धौलपुर तक पूर्व में जिझौती तक तथा दक्षिण में ग्वालियर तक होंगी। इस प्रकार उस समय भी मथुरा एक बड़ा राज्य रहा होगा।[16]

भारतीय धर्म, दर्शन, कला और साहित्य के विकास में इस प्रदेश का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह नगरी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में $27^{0,}$ 2830 अक्षांश तथा $77^{0,}$ 41 पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। यमुना नदी के किनारे स्थित मथुरा नगरी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की एकता की द्योतक रही है।

वर्तमान मथुरा के उत्तर में गुड़गांव और अलीगढ़ जिले का भाग है। पूर्व में अलीगढ़ और एटा, दक्षिण में आगरा तथा पश्चिम में भरतपुर और गुड़गांव का कुछ भाग है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर शूरसेन जनपद का विस्तार मथुरा, बटेश्वर, शौरिपुर तक था। जिसमें जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र मथुरा, कंकाली, जैन चौरासी, शौरीपुर, बटेश्वर, अरिंग एवं सोंख आदि हैं। इन स्थानों से प्रचुर मात्रा में जैन कलाकृतियां मिली हैं। सर्वाधिक जैन कलाकृतियां कंकाली टीले से प्राप्त हुई हैं जो तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक इतिहास का दिग्दर्शन कराती है।

भगवान कृष्ण की जन्मस्थली होने के कारण भी मथुरा का विशेष महत्व है। जैन परम्परानुसार सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का विहार भी मथुरा में हुआ था।[17] तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का भी पदार्पण हुआ था।[18] अन्तिम केवलि

जम्बूस्वामी के तप और निर्वाण की भूमि होने से मथुरा जैनियों के लिए प्रमुख तीर्थ स्थान रहा है।

इस प्रकार शूरसेन जनपद जिनों की विहार भूमि, विविध, मुनियों की तपोभूमि एवं अनेक सिद्ध पुरुषों की निर्वाण भूमि होने के साथ ही साथ जैन धर्म के सुप्रसिद्ध स्तूपों, मन्दिरों और कलाकृतियों के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से ही सिद्ध क्षेत्र तथा उत्तरापथ का प्रमुख तीर्थ स्थान माना गया है।[19]

भारतवर्ष की सर्वोपरि पवित्र और प्राचीन नदियों में यमुना की गणना गंगा के साथ की जाती है। गंगा-यमुना के दोआब की पवित्र भूमि में ही आर्यों की पुरातन संस्कृति का गौरवशाली रूप निर्मित हुआ था। शूरसेन जनपद की यमुना एक मात्र महत्वपूर्ण नदी है। जहां तक शूरसेन जनपद की संस्कृति का सम्बन्ध है यमुना को केवल नदी कहना ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः यह शूरसेन जनपद की संस्कृति की सहायक, इसकी दीर्घकालीन परम्परा की प्रेरक और यहां की धार्मिक भावना की प्रमुख आधार रही है। 'यमुना सहस्त्रनाम' में यमुना जी के एक हजार नामों से उनकी प्रशस्ति का गायन किया गया है।[20]

प्राचीन साहित्य में कलिंदजा, सूर्यतनया, त्रियामा आदि अनेक नामों से यमुना का उल्लेख मिलता है।[21]

भागवत तथा स्कन्द पुराणों से ज्ञात होता है कि प्राचीन वृन्दावन में यमुना गोवर्धन के निकट प्रवाहित होती थीं, जबकि इस समय वह गोवर्धन से प्रायः चौदह मील दूर हो गई है।[22] जो लगभग इक्कीस किलोमीटर है।

शूरसेन जनपद में बारह वनों के नाम का उल्लेख मिलता है– मधुबन, तालबन, कुमुदबन, बहुलाबन, कामबन, खदिरबन, वृन्दावन, भद्रबन, भण्डीरबन, बेलबन, लोहबन और महाबन।[23]

शूरसेन जनपद के उत्तर-पश्चिम की पहाड़ियां अरावली पर्वत की श्रृंखलाएं हैं, जो कामबन और उसके आगे तक फैली हुई हैं। मुख्य 'चरन पहाड़ी' कहलाती है।

शूरसेन जनपद में प्रसिद्ध गोवर्धन पर्वत है, जिसे 'गिरिराज' कहते हैं। यह मथुरा नगर से लगभग 13 मील पश्चिम है और दक्षिण पूर्व की दिशा में फैला है। इसकी लम्बाई करीब पांच मील है और ऊंचाई 100 फुट तक जाती है। यह पर्वत बहुत पवित्र माना जाता है और इसकी बड़ी संख्या में श्रद्धालु परिक्रमा करते हैं।

शूरसेन जनपद की भूमि उन भू-भागों को छोड़कर जहां जंगल, पर्वत या टीले नहीं हैं अन्य मैदानी हिस्से के समान ही है। भूमि बंजर एवं उर्वरक दोनों प्रकार की है। यहां की दो मुख्य फसलें है, खरीफ एवं रबी की। खरीफ में ज्वार, बाजरा और कपास की खेती प्रधान है।

मक्का, मोंठ और ज्वार भी बोया जाता है। इनके अतिरिक्त उर्द, मूंग, तिल, सन् और चावल भी पैदा किया जाता है, पर कम मात्रा में। गन्ना भी कम होता है। रबी की फसल में गेहूं और चना मुख्य है। मटर, मसूर, आलू, गाजर, सरसों, अलसी आदि की भी उपज कई भागों में होती है।

यमुना के रेतीले भाग में ककड़ी, खरबूजे, काशीफल आदि उगाया जाता है और शेष भाग में झाऊ, कांस, करील, झरबेरी आदि झाड़ियां उत्पन्न होती है। झाऊ से टोकरी, डले आदि बनते हैं और कांस का उपयोगी छप्पर बनाने में किया जाता है।

शूरसेन जनपद में अनेक प्रकार के वृक्ष पाये जाते हैं, जैसे– अनार, अमरूद, अमलताश, अरनी, अशोक, आम, आंवला, इमली, कटहल, जामुन, गूलर, खजूर, नारंगी, नीम, नींबू, पपीता आदि। चीनी यात्री ह्वेनसांग जब मथुरा आया था, तब उसने इस क्षेत्र में होने वाले आमों की बहुतायत का उल्लेख किया है। उसने लिखा है– 'यहां पर आमों के पेड़ इतनी अधिकता से पाये जाते हैं कि कहीं-कहीं पर उनके जंगल हो गए। यहां दो प्रकार के आम पाये जाते हैं। एक का फल छोटा होता है, जो कच्चा होने पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है। दूसरे का फल बड़ा होता है जो पकने पर भी हरा ही रहता है।[24]

पशु-पक्षियों के लिए भी शूरसेन जनपद बहुत प्रसिद्ध रहा है। वर्षाकाल में मयूरों के नृत्य हुआ करते थे।[25] अब भी ब्रज में मोरकुटी, मोर मन्दिर आदि नाम इस बात के स्मारक हैं कि शूरसेन में मयूर पक्षी का कितना महत्व था। अन्य पक्षी कोयल, गौरेया, अबाबील, कठफोड़वा, ठठेरा, तोता, नीलकण्ठ, कौआ आदि हैं। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, खच्चर, घोड़ा, हाथी आदि पालतू पशु हैं।

शूरसेन जनपद में जैन धर्म के विकास का अत्यधिक महत्व है। यह विषय इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि यहां पर जैनधर्म का अस्तित्व प्रारम्भ से लेकर बारहवीं शताब्दी तक रहा है और आज भी विद्यमान है।

जब मनुष्य ने पृथ्वी पर अपने जीवन का विस्तार किया, तब उसे नये भू-स्थानों तथा जलवायु परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त हुई। भिन्न-भिन्न स्थानों की उपयोगिता एवं प्रकृति की आकर्षक छटा ने मानव को एकत्र होकर रहने के लिए प्रेरित किया।

जब मनुष्यों ने एक ही स्थान पर निवास करना प्रारम्भ किया तब उसने देखा कि जलवायु एवं ऋतुएं परिवर्तनशील हैं। परिवर्तनशीलता ने मानव जीवन को आकर्षित किया और एक सीमा तक प्रभावित भी किया।

इस प्रकार पूजा-पद्धति और आस्था एवं विश्वास से मनुष्य की अथक यात्रा को समाप्त कर विभिन्न धर्मों के स्वरूप को धारण किया। मानव की जिज्ञासा जो प्राकृतिक रहस्य, उपहारों, श्रद्धा एवं अन्य गूढ़तम् विषयों को जानने के कारण उत्पन्न हुई थी। उससे मनुष्य शैनः शैनः अध्यात्म एवं धर्म की ओर प्रवृत्त हुआ। धर्म एवं अध्यात्म के प्रति आकर्षण के कारण विश्व भर में मानव ने भिन्न-भिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों की स्थापना की। मानव स्वभाव ने अपने चिन्तन के द्वारा ईश्वर को ढूंढने का प्रयास जारी रखा। कभी निराकार तो कभी साकार, लेकिन अपने भावों को व्यक्तिगत अभिव्यक्ति देना मूर्तियों के माध्यम से प्रारम्भ किया। मूर्तिपूजा का खण्डन होने के बाद भी मूर्तियों का निर्माण

इस तथ्य का सूचक है कि प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय ने मूर्तिपूजा को किसी-न-किसी रूप में मान्यता प्रदान की।

पाषाणकाल की लम्बी यात्रा को मनुष्य ने जब पूरा किया तो उसने कुछ उपलब्धियां प्राप्त कर लीं थी। पाषाणकाल के पश्चात् मनुष्य ताम्र पाषाणिक युग में प्रवेश करके वह धर्म के बहुत ही निकट पहुंच गया था। धर्म जो कि अत्यन्त ही प्राचीन विषय एवं आवश्यक रहा है कि मनुष्य ने स्वभावगत रूप से इसे स्वीकार किया और अन्य रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया।

भारतवर्ष की प्राचीनतम सभ्यता सिंधु सभ्यता थी, किन्तु सिन्धु सभ्यता की लिपि अपठनीय होने के कारण इस प्राचीन सभ्यता के विषय में कुछ तथ्यगत रूप से कहना कठिन है क्योंकि हमारे पास इसके पठनीय साधनों का अभाव है। प्राचीन भारतवर्ष के आर्यावर्त में वैदिक धर्म की स्थापना हुई। यह धर्म अपनी स्थापना के बाद विकास की पराकाष्ठ को प्राप्त हुआ वैदिक धर्म के रूप में अपनी एक पृथक् पहचान स्थापित की।

कालान्तर में, विभिन्न रूढ़ियों, आडम्बर, खर्चीले लम्बे यज्ञ, पशुबलि आदि कुरीतियों का इस धर्म में समावेश हो गया। वैदिक धर्म में बहुदेववाद का जोर प्रबल हो गया। एकेश्वरवाद की प्रभुता को स्थापित करना कठिन था और यह निर्धारित करना और भी असम्भव हो गया कि बहुदेववाद अर्थात् सम्पूर्ण देव समूह में सर्वोच्च कौन है?

एक परमेश्वर को मानने का सिद्धान्त प्रायः लुप्त होता जा रहा था। देवताओं के समूह और यज्ञ आदि के खर्च को सभी मनुष्य वहन नहीं कर सकते थें फलतः लम्बी अवधि तक चलने वाले यज्ञ को भविष्य में यथावत् चला पाना कठिन हो गया तब किसी ऐसे धर्म-विज्ञान की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिसमें यह सब पाखण्ड, व्यय, पशुधन की बलि एवं अन्य कुरीतियों के लिए कोई स्थान न हो तथा पर्यावरण को भी सुरक्षित बचाया जा सके। वैदिक धर्म की कुरीतियों के

कारण मानव मस्तिक को एक अहिंसावादी धर्म की आवश्यकता महसूस हुई।

छठी शताब्दी ई. पू. तक आते-आते आर्यावर्त के उत्तर-पूर्व की सीमान्त भूमि से वनों को काटकर कृषि योग्य बनाना प्रारम्भ हो गया। अब अतिरिक्त भूमि दोहन के लिए अधिक पशुधन की आवश्यकता थी। क्योंकि फल वाले हल को खींचने का कार्य पशुओं द्वारा ही हो सकता था।

पशुओं के बचाव के लिए यह आवश्यक हो गया कि पशुबलि को पूर्ण निषिद्ध कर दिया जाए जिससे पशुओं को कृषि कार्य के लिए प्रयोग में लाया जा सके। फलस्वरूप प्राचीन भारतीय ब्राह्मण धर्मानुयायी उपासकों का कर्मकाण्डीय धर्म से मोहभंग होने लगा। इस प्रकार के वातावरण में महावीर स्वामी ने समाज में व्याप्त परम्परागत असमानता पर आधारित अत्यन्त हिंसावादी एवं खर्चीले आडम्बरपूर्ण ब्राह्मण धर्म का विरोध करके समानता, मैत्रीभाव, अहिंसा तथा आडम्बर रहित धर्म का उपदेश दिया।

सामान्य जनता जो ब्राह्मण धर्म के आडम्बरों से थक चुकी थी, उसे यह अहिंसावादी धर्म अति रूचिकर लगा, उसने महावीर स्वामी के धर्म उपदेशों को सुनकर अपने हृदय में धारण किया और तद्नुसार आचरण करना प्रारम्भ किया जिससे यह धर्म एक पृथक् अहिंसावादी धर्म के रूप में स्थापित हुआ जो जैन धर्म के रूप में विकसित हुआ।

जैन धर्म में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समानता का एहसास हुआ। आत्मिय उन्नति का द्वार जैन धर्म के द्वारा सरल हो गया, इस कारण प्रत्येक व्यक्ति इस धर्म के प्रति आकर्षित हुआ और स्वीकार करके गौरवान्वित अनुभव करने लगा।

जैन साहित्यिक साधनों के अनुसार महावीर स्वामी के पूर्व तेईस तीर्थंकर हो चुके थे, चौबीसवें तीर्थंकर स्वयं महावीर स्वामी थे। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण 'जिन' कहलाए।[26]

जैन धर्म भारतवर्ष की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का महत्वपूर्ण भाग है। भिन्न-भिन्न कालों एवं प्रदेशों में अर्हत, व्रात्य, श्रमण, निर्ग्रन्थ, अनेकान्ती, स्यादवादी आदि नाम भी ज्ञात होते हैं।[27]

संसार सागर को पार करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना एवं प्रवर्तन करने वाले जन्म-मरण, सुख-दुख पर विजय प्राप्त करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ उन्हें कहा जाता है जो मानव सम्पूर्ण अन्तरंग और बाह्य परिग्रह को त्याग कर दे।[28]

तीर्थंकरों, श्रमणों, निर्ग्रन्थों, अर्हतों या जिनदेवों द्वारा स्वयं अनुभूत, आचरित एवं संसार के समस्त जीवों के हित सुख के लिए उपदेशित और प्रवर्तित धर्म-व्यवस्था का नाम ही 'जिन' अथवा 'जैन' धर्म हैं। जैन धर्म का स्वयं का दर्शन, ज्ञान, संस्कृति एवं विरासत है।

जैन मान्यतानुसार यह विश्व अपने उपादानों सहित सत्ताभूत, वास्तविक और अनादि विधान है। संसार में उपस्थित समस्त पदार्थों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिवर्तन होते रहते हैं। जिनका कारण कालद्रव्य है। व्यवहार काल की इकाई, 'कल्प' को सबसे बड़ी इकाई माना गया है। अनन्तकाल समाप्त हो चुके हैं और यह संसार अनेक कल्पों तक चलता रहेगा। प्रत्येक कल्प के दो विभाग होते हैं। एक अवसर्पिणी जिसे अधोमुख या अवनतिशील कहा जाता है। दूसरा उत्सर्पिणी जिसे उर्ध्वमुख या उन्नतिशील कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक के छः आरक होते हैं। अवसर्पिणी में प्रथम से छठे तक सभी आरक क्रम से चलते हैं और उत्सर्पिणी काल में यह क्रम विपरीत हो जाता है। अवसर्पिणी में यह क्रम सुखमा-सुखमा, सुखमा-सुखमा, दुखमा-दुखमा और दुखमा-दुखमा छः आरक हैं। उत्सर्पिणी काल में यह क्रम उल्टा हो जाता है जैसे– दुखमा-दुखमा, सुखमा-सुखमा, सुखमा-सुखमा।

शूरसेन जनपद का धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त गौरवशाली रहा है। शूरसेन जनपद को यह गौरव इसलिए प्राप्त है कि यहां पर भारत के सभी प्रमुख धर्म–सम्प्रदायों का विकास हुआ था।

शूरसेन जनपद की धार्मिक संस्कृति ने विभिन्न कालों में देश के अधिकांश भागों को प्रभावित किया था।[29]

शूरसेन जनपद में विभिन्न धर्मों की अविरल धारा सदियों से प्रवाहित होती रहीं है। यह जनपद वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रमुख केन्द्र रहा है।

भगवान श्री कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण यह क्षेत्र सदियों से वैष्णव धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा की गणना प्रमुख धार्मिक नगरी के रूप में होती है।

जैन आगमों का प्रारम्भिक संकलन एवं लेखन शूरसेन जनपद में हुआ। सुधर्मास्वामी एवं जम्बूस्वामी ने शूरसेन जनपद में जैन आगमों का संकलन किया। जैन आगमों के संकलन के कारण इस जनपद के महत्व में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है।[30]

शूरसेन जनपद के शौरीपुर में जैन तीर्थकर नेमिनाथ का जन्म हुआ था।[31] नेमिनाथ जैनधर्म के बाइसवें जिन भगवान माने जाते हैं। भगवान नेमिनाथ को श्रीकृष्ण के चचेरे भाई के रूप में भी जाना जाता है। नेमिनाथ की प्रतिमाओं में भी श्रीकृष्ण एवं बलराम का अंकन किया गया है।[32]

शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र थी लेकिन शक-कुषाणकाल में मथुरा भागवत धर्म का गढ़ नहीं रह गया था।[33] मथुरा से प्राप्त लघु नाग-प्रतिमा अभिलेख से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि मथुरा में नागपूजा भी प्रचलित थी।[34]

भगवान बुद्ध के एक शिष्य महाकच्चायन ने यहां पर जाति विषयक एक प्रवचन दिया था।[35]

जैन मत के अनुसार दो ऋषियों द्वारा सिद्धि प्राप्त किये जाने के कारण शूरसेन को 'सिद्धि क्षेत्र' कहा जाने लगा।[36] शूरसेन और उसके समीपस्थ गांवों के निवासी अपने घरों एवं आंगन में जैन मूर्तियां स्थापित करने के लिए मंगलार्थ अथवा आले बनवाते थे।[37]

कुषाण नरेशों के शासनकाल, 78 ई. के बाद से सम्बन्धित मथुरा से प्राप्त अभिलेखों से[38] यह ज्ञात होता है कि यहां पर जैन सम्प्रदाय न केवल अधिष्टित ही था वरन् पहले से ही यह छोटे-छोटे वर्गों में विभक्त हो गया था।[39]

चौथी शताब्दी में शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा और बल्लभी में दो जैन संगीतियां बुलाई गई थीं। महावीर स्वामी के निर्वाण के 827वें वर्ष मथुरा में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में जैन संगीति का आयोजन किया गया।[40] दूसरी जैन संगीति इसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में आयोजित हुई।[41]

ये जैन संगीतियां जैन धर्म के प्राचारार्थ एवं जैन साधुओं को संगठित करने की दृष्टि से बुलाई गई थी। इन संगीतियों में जैन धर्म के श्रमण एवं श्रमणचर्या के गठन के साथ-साथ जैन धर्म की रचना सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का समाधान निकालने का प्रयास किया गया था।[42]

महावीर स्वामी के पश्चात् शूरसेन जनपद में ज्ञात जैन साधुओं द्वारा श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रचार कार्य प्रारम्भ हुआ। सात जैन साधु थे– सुरमन्त्र, श्रीमन्त्र, श्री तिलक, सर्वसुन्दर, जयमन्त्र, अनिल ललित और जयमित्र।[43]

शूरसेन जनपद में सरस्वती आन्दोलन हुआ। इस तथ्य की पुष्टि सरस्वती की प्राचीनतम् प्रतिमा से होती है। सरस्वती की प्रतिमा बनाकर मथुरा में जैनागमों को संकलन एवं सुरक्षित करने का प्रयास किया। सरस्वती देवी को जैन धर्म में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।[44]

शूरसेन जनपद के प्रमुख जैन केन्द्र कंकाली टीले से सर्वाधिक जैन मूर्तियां एवं कलाकृतियां प्राप्त हुई हैं।

कला की दृष्टि से शूरसेन जनपद का प्रमुख स्थान है। गान्धार कला के साथ शूरसेन जनपद में मथुरा कला शैली विकसित हुई थी मथुरा कला के अंतर्गत निर्मित मूर्तियां भारतवर्ष के अन्य क्षेत्रों में भेजी जाती थीं। मथुरा कला विशुद्ध भारतीय थी।

कंकाली से प्राप्त देवनिर्मित जैन स्तूप तीसरी शताब्दी ई. पू. का है।[45] कला की दृष्टिकोण से यह अत्यन्त सुन्दर एवं प्राचीन है। मथुरा से अभिलेखों की भी प्राप्ति हुई है। शक नरेश महाक्षत्रप शोडास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलेख है। इसकी तिथि 72 दी गई है।[46]

कंकाली से एक नर्तक की पत्नी शिवयशा ने एक अभिलिखित आयागपट्ट स्थापित करवाया था प्राप्त हुआ है।[47] इससे पता चलता है कि शूरसेन जनपद में विभिन्न वर्ग के लोग जैन धर्म में आस्था रखते थे। शूरसेन जनपद से इसी प्रकार के और भी जैन अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो शूरेसन जनपद में जैन तीर्थंकरों की उपासना के निमित्त भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आयागपट्ट निर्मित करवाने का उल्लेख है। इन आयागपट्टों पर विभिन्न तीर्थंकरों की उपासना के निमित उनके अलग-अलग लांछन निर्मित हैं।[48]

मथुरा कला के अन्तर्गत चार प्रकार की प्रतिमाएं निर्मित हुई हैं। प्रथम कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी प्रतिमाएं, दूसरी पद्मासन में बैठी हुई प्रतिमाएं, तीसरी खड़ी हुई सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं और चौथी उसी की भांति आसनस्थ प्रतिमाएं।[49]

कुषाण काल के कुछ अभिलेखों में जैन श्रमणों के गण, कुल एवं शाखा के भी साक्ष्य मिलते हैं इससे यह महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होता है कि शूरसेन जनपद का जैन संघ अत्यधिक सुसंगठित था।[50]

जैन प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से शूरसेन जनपद का महत्वपूर्ण स्थान है। शूरसेन जनपद में ही मथुरा कला का जन्म एवं विकास हुआ।

शुंग-कुषाण युग में जैन आयागपट्ट एवं प्रतिमाएं प्रचुर संख्या में निर्मित हुई। भगवान ऋषभ की लटकती जटा, पार्श्वनाथ के सात सर्पफण, जिनों के वक्ष स्थल पर भी श्री वत्स चिन्ह और शीर्ष भाग पर उष्णीष निर्मित करने का श्रेय मथुरा कला को जाता है।

जिन-मूर्तियों में अष्ट-प्रतिहार्यों, जैसे-सिंहासन, चामरधर, प्रभामण्डल, छत्रत्रयी, देवदुन्दुभि, सुरपुष्ट-वृष्टि, दिव्यध्वनि उत्कीर्ण करने

का प्रारम्भ भी यहां से हुआ। मथुरा कला के अन्तर्गत ही प्रतिमाओं का अंकन ध्यानमुद्रा में प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व प्राप्त मूर्तियों में जो लोहानीपुर, चौसा की है, उनमें जिन कार्योत्सर्ग– मुद्रा में खड़े हैं। मूर्तियों में लांछनों के साथ-साथ यक्ष-यक्षी युगलों का चित्रण भी सर्वप्रथम शूरसेन जनपद में ही प्रारम्भ हुई।

शूरसेन जनपद से प्रतिमाओं के साथ-साथ अभिलिखित चरण चौकी, आयागपट्ट एवं अन्य कलाकृतियां भी प्राप्त हुई हैं।

तीर्थंकरों के जीवन दृश्यों, विद्याधरों, सरस्वती, क्षेत्रपाल, जिनों के माता-पिता, अष्ट दिक्पालों, नवग्रहों एवं प्रतिमा निरूपण से सम्बन्धित उल्लेख तथा उनकी अभिव्यक्ति भी सर्वप्रथम शूरसेन जनपद में ही हुई।

जैन शिल्प में एकरसता उत्पन्न करने के लिए स्थापत्य विशाल आयामों को शिल्पगत वैविध्य से संयोजित करने के लिए एवं अन्य धर्मावलम्बियों को आकर्षित करने के लिए अन्य सम्प्रदायों के कतिपय देवों को भी विभिन्न स्थलों पर निरूपित किया गया है।

शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा की एक अम्बिका प्रतिमा में बलराम, कृष्ण, कुबेर एवं गणेश का अंकन किया गया है। मथुरा एवं देवगढ़ की नेमिनाथ प्रतिमा में भी बलराम-कृष्ण का अंकन किया गया है।

जटामुकुट से शोभित वृषभवाहना देवी का निरूपण श्वेताम्बर स्थलों पर विशेष लोकप्रिय था। देवी की दो भुजाओं में सर्प एवं त्रिशूल है। देवी का लाक्षणिक स्वरूप पूर्णतः हिन्दू शिवा से प्रभावित है।[51]

राज्य संग्रहालय लखनऊ की दो अम्बिका मूर्तियों में देवी के हाथों में दर्पण, त्रिशूल, घण्टा और पुस्तक प्रदर्शित है जिस पर उमा एवं शिव का प्रभाव है।[52]

शूरसेन का महत्व इस दृष्टिकोण से भी है कि यह एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। कुषाणकाल में जो राजमार्ग पाटलिपुत्र से प्रारम्भ होता था वह मथुरा से होकर पुरूषपुर तक जाता था।[53] इसलिए यह नगर उस काल में भारतीय राज्यों के अतिरिक्त विदेशों से भी अपना

व्यापारिक सम्बन्ध रखता था। शूरसेन जनपद के व्यापारी तब देश एवं विदेश की अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर यथेष्ट धनार्जन करते थे।[54]

पुष्यमित्र के शासनकाल में प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि हुए थे, जिन्होंने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' की रचना की थी। उन्होंने शूरसेन जनपद के निवासियों के विषय में कहा है कि यहां के निवासी संकाश्य और पाटलिपुत्र में रहने वालों से भी अधिक सुन्दर और समृद्ध होते हैं।[55]

शूरसेन जनपद में जैन धर्म के क्रमबद्ध विकास को प्रस्तुत करने के लिए जो सामग्री उपलब्ध है उसे मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(1) साहित्यिक सामग्री (2) पुरातात्विक अवशेष और (3) विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त।

साहित्यिक सामग्री में मौलिक ग्रन्थों का प्रमुख स्थान है, तत्पश्चात् आधुनिक ग्रन्थों का स्थान आता है।

मौलिक ग्रन्थों को भी दो भागों में विभक्त कर सकते हैं : (क) ब्राह्मण ग्रन्थ, (ख) ब्राह्मणेत्तर ग्रन्थ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पुराणों का विशेष महत्व है। प्रमुख पुराणों में शूरसेन जनपद का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे— हरिवंश पुराण, मत्स्य पुराण, भागवत पुराण, वराह पुराण, पद्म पुराण, स्कन्द पुराण, ब्रह्मवैवर्त एवं गरूण पुराण। इन महत्वपूर्ण पुराणों में न केवल शूरसेन जनपद के भौगोलिक एवं प्राकृतिक वर्णन मिलते हैं अपितु प्राचीन वंशावलियां, युद्ध, धर्म, दर्शन, कला एवं सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं। शूरसेन जनपद के सम्बन्ध में हरिवंश तथा भागवत पुराण का विशेष धार्मिक महत्व है।

परवर्ती संस्कृत साहित्य में मनुस्मृति, स्मृति ग्रन्थ, काव्य, नाटक, चम्पू, आख्यायिका आदि हैं जिनसे विशेष उल्लेखनीय जानकारी मिलती

है। महाकवि कालिदास[56] ने भी अपने ग्रन्थ में शूरसेन का उल्लेख किया है और बताया है कि यहां के निवासी पाटलिपुत्र से अधिक सुन्दर एवं सभ्य होते हैं।

ब्राह्मणेत्तर साहित्य में जैन एवं बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन साहित्य में आगम ग्रन्थ, कल्पसूत्र, भगवती सूत्र, अंग विज्जा, पउमचरिय, वसुदेवहिण्डी, आवश्यकचूर्णी, आवश्यक निर्युक्ति, रायपसेनिय सूत्र, समवायांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, विविधतीर्थ कल्प विशेष उल्लेखनीय है।

इन महत्वपूर्ण ग्रन्थों से चौबीस तीर्थंकरों का जीवन वृत्तान्त एवं विभिन्न तीर्थों के विषय में महत्वपूर्ण ज्ञान उपलब्ध होता है। विवागसूय से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी का शूरसेन जनपद में विहार हुआ था।

इसी क्रम में कर्म विपाक, तिलोयपण्णत्ति, दशवैकालिक सूत्र, तत्वार्थ सूत्र, परिशिष्ट पर्वन, नन्दीचूर्णि, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रन्थों से जैन धर्म एवं दर्शन संस्कृति की अमूल्य जानकारी मिलती है।

शूरसेन जनपद में सात जैन साधुओं द्वारा धर्म के प्रचार कार्य का उल्लेख विमलसूरि कृत पउमचरिय से ज्ञात होता है। बृहत्कथाकोश, स्थानांग सूत्र, सूत्रकृतांग-टीका, त्रिषष्टिशलाकापुरुष– चरित, ज्ञातृधर्मकथा आदि ग्रन्थों का विशेष उल्लेखनीय स्थान है। इन प्रमुख ग्रन्थों से प्राचीन भारत में जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति तथा कला का वृहद् ज्ञान उपलब्ध होता है।

वृहत्कल्पसूत्र भाष्य से ज्ञात होता है कि मथुरा राज्य के 96 गांवों के चौराहों पर 'मंगलचैत्य' निर्मित किये गये थे और उनमें अर्हत प्रतिमाएं प्रतिष्टित की गई थीं।

श्वेताम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रन्थों में वप्पभट्टिसूरि कृत चर्तुविंशतिका, शोभनमुनिकृत चतुर्विंशति स्तोत, निर्वाणकलिका प्रवचनसारोद्धार आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों से विशेष जानकारी मिलती है।

दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रन्थों में हरिवंश पुराण, आदि पुराण, उत्तर पुराण, प्रतिष्ठा-सारोद्धार, प्रतिष्ठा सारसंग्रह आदि ग्रन्थों से जैन सांस्कृतिक अवदान के बारे में जानकारी मिलती है।

इनके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में घट जातक, दिव्यावदान, ललित विस्तार, मझिमनिकाय, महावत्थु, वेतवत्थु, अंगुत्तर निकाय, संयुक्त निकाय आदि ग्रन्थों से अमूल्य जानकारी मिलती है। इन प्रमुख ग्रन्थों से तत्कालीन समय की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के विषय में अमूल्य जानकारी उपलब्ध है।

आधुनिक साहित्य में श्री प्रभुदयाल मीत्तल की दो पुस्तकें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। प्रथम ब्रज की कलाओं का इतिहास एवं द्वितीयतः ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास। श्रीकृष्ण दत्त बाजपेयी की पुस्तक ब्रज का इतिहास प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, डॉ. आर. सी. शर्मा की पुस्तक मथुरा संग्रहालय परिचय, ब्रज का प्राचीन जैन तीर्थ कंकाली स्थल विशेष प्रमुख है जिससे शूरसेन जनपद की कला एवं संस्कृति के अध्ययन में महत्वपूर्ण ज्ञान उपलब्ध होता है।

इसी क्रम में डॉ. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी की पुस्तक मथुरा कला, डॉ. हीरालाल जैन की पुस्तक भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की महत्वपूर्ण पुस्तक उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, जैन कला और स्थापत्य, उत्तर प्रदेश में जैन धर्म का उदय और विकास दि जैन सोर्सेज ऑव दि हिस्ट्री ऑव ऐंश्येण्ट इण्डिया, विशेष उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

डॉ. मारूतिनन्दन प्रसाद तिवारी की प्रमुख पुस्तक जैन प्रतिमा विज्ञान विशेष उल्लेखनीय है। डॉ. वी. के. शर्मा की पुस्तक ए स्पेशल रिफ्रेन्स विद मथुरा तथा डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी की पुस्तक लखनऊ संग्रहालय की जैन प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय है। डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी की पुस्तक पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्येंट इण्डिया (सप्तम संस्करण), डॉ. वी. ए. स्मिथ की पुस्तक दि जैन स्तूप एण्ड अदर

एण्टीक्विटीज ऑव मथुरा, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन की पुस्तक जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज तथा अमलानन्द घोष की जैन कला एवं स्थापत्य तीनों भाग भी विशेष उल्लेखनीय है।

श्री अलेक्जेण्डर कनिंघम की पुस्तक ऐन्शयेंट ज्योग्राफी ऑव इण्डिया, श्री नाथूराम प्रेमी की पुस्तक जैन साहित्य और इतिहास, श्री मोहन लाल मेहता का जैन साहित्य का वृहद् इतिहास के पांचों भाग विशेष महत्वपूर्ण है एवं जैन धर्म-दर्शन विशेष उल्लेखनीय है।

डॉ. बिमलचरण लाहा की पुस्तक प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल एवं डॉ. विजयेन्द्र कुमार माथुर की पुस्तक ऐतिहासिक स्थानावली, डॉ. झिनकू यादव की पुस्तक जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पुस्तकों से महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है।

डॉ. मधुलिका वाजपेयी की पुस्तक मध्यप्रदेश में जैन धर्म का विकास विशेष महत्वपूर्ण है। यह पुस्तक शोध प्रबन्ध को दिशा प्रदान करने में महत्वपूर्ण आधार सिद्ध हुई।

उपर्युक्त ग्रन्थों से शूरसेन जनपद की जैन कला, साहित्य, दर्शन एवं भौगोलिक सीमा, इतिहास एवं संस्कृति के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है जो बहुत मूल्यवान है।

इतिहास लेखन के लिए साहित्यिक सामग्री के अतिरिक्त पुरातात्विक सामग्री का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। यह सामग्री प्राचीन मूर्तियों, चित्रों, अभिलेखों, सिक्कों तथा इमारती वस्तुओं के रूप में उपलब्ध है। शूरसेन जनपद में ई. पू. प्रथम शती से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के जो अवशेष मिले हैं उनसे मौर्य युग से लेकर गहड़वाल वंश तक इतिहास एवं संस्कृति जानने में सहायता प्राप्त होती है।[37]

ग्रन्थों में निरूपित विवरणों के वस्तुगत परीक्षण की दृष्टि से पुरातात्विक स्थलों की सामग्री का विशेष महत्व है, क्योंकि मूर्त धरोहर, कलात्मक एवं मूर्तिवैज्ञानिक वृत्तियों के स्पष्ट साक्षी होते हैं।

शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा से प्राचीन शिलालेख मिले हैं जिनसे न केवल विविध कालों की राजनीतिक अवस्था का पता चलता है बल्कि तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर भी प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

शूरसेन जनपद की एक विशेष कला थी जो मथुरा कला के नाम से जानी जाती है। अब तक शूरसेन जनपद की चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की मूर्तियां, स्तम्भ, शिलापट्ट, सिरदल, चरण चौकी एवं स्तूप मिले हैं।

इन अवशेषों से प्राचीन स्थापत्य की विशद् जानकारी मिलती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन शूरसेन मे किस प्रकार के मन्दिर, विहार, स्तूप, महल, मकान आदि निर्मित होते थे।[58]

शोध छात्रा ने शूरसेन जनपद के ऐतिहासिक स्थलों का व्यक्तिगत विस्तृत सर्वेक्षण किया है। सर्वेक्षण से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री का समावेश इस शोध प्रबन्ध में किया गया है।

भारत में प्रारम्भ से ही विदेशी यात्रियों का आगमन होता रहा है जिन्होंने अपने यात्रावृतान्त लिखे हैं। इन वृत्तान्तों से तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं का विस्तृत ज्ञान उपलब्ध होता है। इन यात्रियों ने यहां का आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया है।

सर्वाधिक प्राचीन वृत्तान्त यूनानी यात्रियों के मिलते हैं। मौर्यवंश के समय में मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत भारत आया था। उसने शूरसेन का उल्लेख किया है। इसकी इण्डिका नामक पुस्तक आज उपलब्ध नहीं है लेकिन ई. दूसरी शती के यूनानी लेखक एरियन[59] ने अपनी पुस्तक में 'इण्डिका' के उद्धरणों को प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है– ''शौरसेनाई शूरसेन'' लोग हेराक्लीज (कृष्ण) को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं।

शौरसेनाई लोगों के दो बड़े शहर हैं– मेथोरा (मथुरा) और क्लीसोबोरा (केशवपुरा)। उनके राज्य में जोबरेस (जमुना) नाम की एक नदी बहुती है जिसमें नावे चल सकती हैं।

प्रथम शताब्दी के यूनानी लेखक प्लिनी ने भी मथुरा और केशवपुरा के बीच से बहने वाली 'जोमनेस' (जमुना) का उल्लेख किया है।[60]

एक अन्य यूनानी लेखक टालमी ने 'मोदुरा' (मथुरा) को देवताओं का नगर कहा हैं

यूनानियों के अतिरिक्त अनेक चीनी यात्रियों ने भी मथुरा का वर्णन किया है। इनमें फाह्यान[61] तथा ह्वेनसांग का नाम विशेष प्रमुख है। फाह्यान मथुरा में चौथी शताब्दी ई. में आया और एक मास तक निवास किया। उसने मथुरा की धार्मिक स्थिति का वर्णन किया है।

सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग[62] चीन से मथुरा आया था। उसने शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा की सीमा 5000 ली. बताया है और आमों की दो किस्मों के विषय में जानकारी देता है। उसके वर्णन से शूरसेन जनपद के क्षेत्रफल और धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

ये दोनों चीनी यात्री बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर भारत आये थे। उनका मुख्य उद्देश्य बौद्ध धार्मिक स्थलों की यात्रा करना तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन एवं अनुवाद करना था।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. महापुराण; पर्व 16, श्लोक 155
2. मनुस्मृति, 2, 19
3. मनुस्मृति, 2, 18 तथा 20
4. कनिंघम, ए.; ऐश्येंट ज्यॉग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ. 706
5. पार्जिटर; ऐश्येंट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, पृ. 170
6. ऋग्वेद, VII, 18, 6; गोपथ ब्राह्मण, I, 2, 9 बिब्ल्योथेका इण्डिका सीरिज़।
7. वृहत्संहिता, 14, 3

8. गरूड़ पुराण, 62

9. पद्मपुराण, 73-44, 45

10. गर्गसंहिता, 34

11. वाराह पुराण, अध्याय 158, 163, 168 श्लोक 1, 10, 15

12. चत्वारिशं योजनानां ततस्तु मथुरा स्मृता।

13. बाजपेयी, कृष्णदत्त; ब्रज का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. 2

14. वाटर्स, थामस; ऑन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, प्रथम संस्करण, भाग-1, पृ. 301-313

15. वाजपेयी, कृष्णदत्त; पृ. नि., पृ. 2

16. कनिंघम, ए; पू. नि., पृ. 427-428

17. जिनप्रभसूरि; 'विविध तीर्थकल्प' का 'मथुरापुरी कल्प'

18. विवागसूय, 6

19. मीत्तल, प्रभुदयाल; ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 21

20. गर्ग संहिता, माधुर्य खंड, अध्याय 19

21. अंगुत्तर निकाय, IV, 101; संयुक्तनिकाय II, 135, V, 401, 460, 461; ऋग्वेद 10, 75; अथर्ववेद 4, 9, 10; शतपथ ब्राह्मण 13, 5, 4, 11; एतरेय ब्राह्मण 8, 13; तांड्य ब्राह्मण 9, 4, 10; जैमिनीय ब्राह्मण 3, 23

22. लाहा, बिमल चरण; प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल पृ. 136

23. पद्मपुराण 11-17; माथुर, विजयेन्द्र कुमार; ऐतिहासिक स्थानावलि, पृ. 770

24. वाटर्स, थामस; पू. नि., पृ. 301

25. कालिदास; रघुवंश, 6-50

26. समवायांग सूत्र, 157; भगवती सूत्र, 208, 58, 59, 16, 5; कल्पसूत्र, 2, 184, 203; पउमचरिय : 11-7, 5, 145, 48

27. पू. नि.

28. पू. नि.

29. मीत्तल, प्रभुदयाल; ब्रज के धर्म - सम्प्रदायों का इतिहास, पृ. 1

30. दोशी, बेचरदास; जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-4, पृ. 12

31. माथुर, विजयेन्द्र कुमार; पू. नि., पृ. 998

32. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे 117

33. रायचौधरी, एच. सी.; अर्ली हिस्ट्री ऑव द वैष्णव सेक्ट, पृ. 99

34. पू. नि. पृ. 100

35. मज्झिम, II, पृ. 83

36. विविधतीर्थकल्प, पृ. 50

37. बृहत भागवत् I, 1774

38. राजकीय संग्रहालय मथुरा सं. क्यू-2, बी. 71, बी. 72

39. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, I, पू. 167

40. जैकोबी, हरमन; स्टडीज इन जैनिज्म, पृ. 20; मेहता, मोहन लाल; जैनधर्म-दर्शन, पृ. 348; दोशी, बेचरदास; पू. नि. पृ. 12-13

41. भगवती सूत्र, 14, 38

42. यादव, झिनकू; जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ. 124-125

43. विमलसूरि; पउम चरिउ, II, कर्म विपाक, पृ. 85-105 (पं. सुखलालकृत हिन्दी अनुवाद सहित); मेहता, मोहनलाल; आउट लाइन्स ऑफ कर्म इन जैनिज्म, पृ. 10-13

44. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 24

45. दोशी, बेचरदास; पू. नि. पृ. 19-20

46. पू. नि. पृ. 19-20; जे. सी. सिकदार; स्टडीज इन भगवती सूत्र, पृ. 600

47. समराइच्चकहा, 1, पृ. 58

48. पू. नि. पृ. 58

49. जैन, हीरालाल; भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. 234

50. भगवती सूत्र, 7, 1, 255; समराइच्चकहा, 3, पृ. 217

51. राव, टी. ए. गोपीनाथ; एलिमेण्ट्स ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, खण्ड-1, भाग-2, पृ. 366

52. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे 66.225, जे 312 : राव टी.ए. गोपीनाथ, पू. नि., पृ. 360, 366, 387

53. मीतल, प्रभुदयाल; पृ.नि., पृ. 94

54. पू.नि., पृ. 94-95

55. महाभाष्य, 5-3-57 "सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्रव माथुरा अभिरूपतरा इति।"

56. रघुवंश, 6-50

57. फ्यूरर; मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स, 1888-1891; कनिंघम ए.; ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, 1871, 1881, 1882, 1883; एफ.एस. ग्राउस; मथुरा-एडिस्ट्रिक्ट मेमोआर।

58. हर्बर्ट, हर्टल; सम रिज़ल्ट्स ऑव द एक्शकेवेशन्स ऐट सोंख : ए प्रीलिमिनरी रिपोर्ट, जर्मन स्कालर्स आन इण्डिया, भाग-2, नई दिल्ली, 1976

59. एरियन; इण्डिका VIII

60. प्लिनी; नेचुरल हिस्ट्री, VI 19; मेक्रिंडिल; ऐश्येंट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टॉलमी, एस. एन. मजूमदार संस्करण, पृ. 98

61. सैमुअल बील; ट्रैवेल्स ऑव फाह्यन; पृ. 42

62. वाटर्स, थामस; ट्रैवेल्स ऑन युवान च्वांग्स, I, पृ. 301

अध्याय द्वितीय

शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास

बुद्धकालीन षोड्स महाजनपदों में शूरसेन जनपद का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा थी। भगवान कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण मथुरा को भारत की हृदयस्थली के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मथुरा की गणना सप्तमहापुरियों में की गई है।[1]

शूरसेन जनपद जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। जैन तीर्थों में मथुरा को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शूरसेन जनपद को वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रमुख स्थल होने का गौरव प्राप्त है।

मनु ने ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत कुरू, पंचाल, मत्स्य और शूरसेन प्रदेशों की स्थिति को स्वीकार किया है। शूरसेन जनपद के निवासियों का आचार-विचार समस्त पृथ्वी के नर-नारियों के लिए आदर्श था।[2]

संसार की सबसे प्राचीन वैदिक संस्कृति का प्रादुर्भाव ब्रह्मर्षि प्रदेश में हुआ था।

जैन धर्म की प्रचलित अनुश्रूति के अनुसार नाभि के पुत्र भगवान ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने बावन देशों की रचना की थी। उन देशों में शूरसेन देश और उसकी राजधानी मथुरा का भी उल्लेख है।[3]

जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का विहार शूरसेन की राजधानी मथुरा में हुआ था। उनके विहार स्थल का कुबेरा देवी द्वारा एक सुन्दर स्तूप बनाया गया था, जो जैन धर्म के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है।[4]

जैन धर्म की प्रचलित मान्यता के अनुसार महावीर स्वामी का विहार शूरसेन जनपद में हुआ था। उस समय यहां का राजा उदितोदय था।[5]

भगवान महावीर ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक राजवंशों का सहयोग प्राप्त किया। लिच्छिवि नरेश चेटक स्वयं महावीर स्वामी का शिष्य था। उत्तराध्ययन सूत्र[6] से ज्ञात होता है कि मगध नरेश बिंबिसार, महावीर का समकालीन था। उसकी दस रानियां जैन धर्म में आस्था रखती थीं।

ज्ञातधर्मकथा[7] तथा अनुत्तरोपपासिक दशांग[8] आगम ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि बिंबिसार का पुत्र अजातशत्रु चम्पा नरेश दधिवाहन तथा उसकी पुत्री चन्दना सभी महावीर स्वामी के शिष्य थे।

महावीर स्वामी के संघ में चन्दना नामक श्रमणी की अध्यक्षता में अधिक संख्या में भिक्षुणियां भी सम्मिलित थीं।[9] सम्पन्न परिवारों के श्रावक एवं श्राविकाएं भी महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म में आस्था रखते थे।[10]

समवायांग[11] में महावीर के ग्यारह गणधरों का उल्लेख मिलता है। इन गणधरों पर ही संघ के संचालन का सम्पूर्ण दायित्व था। इनके नाम इस प्रकार हैं– इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल भ्राता, मेतार्य और श्री प्रभास। ये सभी गृहस्थ जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी ब्राह्मण थे तथा भगवान महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था।[12]

महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् जैन धर्म मुख्य रूप से दो भागों दिगम्बर परम्परा एवं श्वेताम्बर परम्परा में बंट गया था। सुधर्मा और जम्बू स्वामी के पश्चात् भद्रबाहु तीसरी शताब्दी ई. पू. में हुए। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा जिसमें अकाल की स्थिति आ गई। फलस्वरूप भद्रबाहु अपने श्रमण संघ को लेकर चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ दक्षिण में मैसूर के श्रवण बेलगोला नामक स्थान पर चले गये।[13]

भारत के सोलह महाजनपदों में मगध जनपद अधिक शक्तिशाली था और साम्राज्यवादी शक्तियों का महत्वपूर्ण केन्द्र भी था तत्कालीन सभी गणराज्य मगध जनपद की अधीनता स्वीकार करते थे। शूरसेन जनपद भी मगध साम्राज्य के अधीन था अतः मौर्य युग में शूरसेन जनपद में बैदिक धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म को भी प्रोत्साहन मिलता था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने जीवन के अन्तिम समय में जैन धर्म को पूर्णतः अंगीकार कर लिया था।

चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद बिन्दुसार तथा अशोक ने भी जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया। अशोक बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का भी आदर करता था। अशोक अहिंसा के सिद्धान्त का पालन स्वयं भी करता था और अपनी प्रजा को भी प्रेरित करता था।[14] अशोक ने निर्ग्रन्थों एवं आजीविको को दान दिया था।[15] इससे स्पष्ट होता है कि मौर्य युग में सभी धर्मों को समान सम्मान प्राप्त था और राज्य की ओर से भी सभी धर्मों को पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता था।

अशोक महान का उत्तराधिकारी सम्प्रति भी जैन धर्मानुयायी था। उसके शासन काल में जैन धर्म का विकास हुआ।[16]

शूरसेन जनपद के साथ मगध, अंग, कलिंग, काशी, कोशल, कुरू, सौरिपुर, पंचाल, अहिच्छत्रा, सौराष्ट्र, विदेह, वत्स, नन्दीपुर, मलय, मत्स्य, चेदि, सिन्धु सौवीर, श्रावस्ती आदि स्थलों को आर्य घोषित कर जैन श्रमणों के विहार योग्य बना दिये गए। सम्प्रति ने जैन श्रमणों के लिए दानशालाएं स्थापित करवाई तथा भोजन वस्त्र प्रदान करने का भी व्यवस्था करवाई।[17]

सम्प्रति ने आंन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र और कोडुक्क के प्रदेशों को जैन साधुओं के निवास एवं विहार के लिए सुरक्षित कर दिया था।[18]

मौर्य युग में शूरसेन जनपद में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार होता रहा है। मौर्य शासकों ने सभी धर्मों को समान रूप से प्रश्रय दिया। जैन धर्मानुयायी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने धर्म का आचरण करते थे। कालान्तर

में मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया और मगध पर शुंग वंश का अधिपत्य स्थापित हो गया।

पुष्यमित्र शुंग ने मगध पर अधिकार स्थापित करके शुंग वंश का शासन आरम्भ किया। शुंग वंश के शासकों का प्रयत्न ब्राह्मण धर्म का पुनरूत्थान करना था, जिसके परिणामस्वरूप जैन, बौद्धादि श्रमण धर्मों को हानि भी पहुंची।[19]

शुंगों के शासनकाल में भागवत धर्म की विशेष उन्नति हुई। शुंग वंश में शूरसेन जनपद पर भी शुंगों का अधिकार हो गया और जनसामान्य शूरसेन के स्थान पर मथुरा का सम्बोधन प्रारम्भ कर दिया था। फलस्वरूप शूरसेन का नाम विलुप्त होने लगा और उसकी राजधानी मथुरा जनसामान्य तथा विशिष्ट दोनों ही वर्गों की बोलचाल में सम्मिलित होने लगी।

प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि पुष्यमित्र के समाकालीन थे, जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर प्रसिद्ध महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य में पतंजलि ने मथुरा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यहां के लोग संकाश्य तथा पाटलिपुत्र के निवासियों की अपेक्षा अधिक श्रीसम्पन्न थे।[20]

भारत के प्रमुख धर्मों में वैदिक, जैन एवं बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। शूरसेन जनपद में शुंगयुग में भी तीनों प्रमुख धर्मों का महत्वपूर्ण अस्तित्व था। जैन धर्म की प्राचीनता मगध की भांति शूरसेन जनपद में पुरावशेषों से ज्ञात होती है।

शुंग-युग में बड़े-बड़े व्यापारिक मार्ग शूरसेन से होकर निकलते थे। मथुरा से एक मार्ग बेरंजा होकर श्रावस्ती को जाता था। तक्षशिला से पाटलिपुत्र की ओर तथा दक्षिण में विदिशा और उज्जयिनी की ओर जाने वाला मार्ग मथुरा से होकर जाता था।[21] वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्म का केन्द्र होने के कारण शुंग युगमें शूरसेन जनपद की ख्याति अत्यधिक फैल गई थी।

शूरसेन जनपद के अतिरिक्त इस समय जैन धर्म गुजरात में भी फैल चुका था। इसकी पुष्टि कालकाचार्य कथा से होती है। कथा के अनुसार कालक ने भड़ौंच जाकर वहां के निवासियों को जैन धर्म में दीक्षित किया।[22]

शुंगकाल की जैन गुफाएं उदयगिरि-खण्डगिरि की पहाड़ियों पर प्राप्त होती है। उदयगिरि की हाथी गुम्फा में खारवेल का पहली शती ई. पू. का लेख उत्कीर्ण है।[23]

शुंग कालीन नीलान्जना के नृत्य पट्ट[24] से यह ज्ञात होता है कि शुंगकाल में जैन धर्म का कलात्मक विकास प्रारम्भ हुआ। यह नृत्य पट्ट शूरसेन जनपद से प्राप्त हुआ है। इस नृत्य पट्ट पर उत्कीर्ण जिन प्रतिमा के कथानक से यह सिद्ध होता है कि तीर्थंकर मूर्ति निर्माण की परम्परा शूरसेन जनपद में शुंगकाल से ही प्रारम्भ हो गई थी।

शूरसेन जनपद से प्राप्त आयागपट्ट का निर्माण भी शुंगकाल से ही प्रारम्भ होता है। एक क्षतिग्रस्त आयागपट्ट में सर्वप्राचीन भगवान पार्श्वनाथ का अंकन किया गया है।[25]

शुंगकाल से पहले पार्श्वनाथ का अंकन नहीं मिलता है। अतः जैन धर्म के विकास में यह आयागपट्ट विशेष महत्वपूर्ण है।

शुंगकालीन आयागपट्टों पर अनेक प्रतीकों का अंकन भी प्राप्त होता है। प्रमुख प्रतीकों में चक्र[26], त्रिरत्न[27] पंचागुल[28] पूर्ण कलश[29] आदि प्रतीक उत्कीर्ण हैं।

शुंगकाल तक तीर्थंकरों की स्वतन्त्र प्रतिमाएं नहीं प्राप्त होती हैं अतः पूजार्थक आयागपट्टों का निर्माण शुंगकाल से प्रारम्भ होता है। इन महत्वपूर्ण कलाकृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शुंग शासक ब्राह्मण धर्मावलम्बी होते हुए उन्होंने अन्य अवैदिक धर्मों को भी प्रोत्साहन दिया।

शूरसेन जनपद में जैन कलाकृतियों के निर्माण का प्रारम्भ शुंग काल से आरम्भ होता है और आगे तक तीव्रगति से अग्रसर होता है। जैन धर्म

का प्रमुख केन्द्र होने के कारण शूरसेन जनपद को अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई।

शुंग शासकों ने एक सौ ई. पू. तक शूरसेन जनपद पर राज्य किया। तत्पश्चात् राजनैतिक उथल-पुथल प्रारम्भ होने के कारण उत्तर भारत में शक-कुषाणों का शासन आरम्भ हुआ। शूरसेन जनपद के मित्रवंशी स्थानीय शासकों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।[30]

शक राजाओं ने उत्तर-पश्चिम भारत की पतन्नोमुख राजनीति का लाभ उठाकर शुंग साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। शक शासकों ने शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा को अपने जीते हुए भाग का केन्द्र बनाया, जो उस समय अपनी, धर्म, कला एवं व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।[31]

शूरसेन जनपद पर जिन शकों ने शासन किया उनके नाम सिक्कों तथा अभिलेखों द्वारा ज्ञात होते हैं। प्रारम्भिक क्षत्रप शासकों के नाम हगान और हगामष मिलते हैं। कुछ सिक्के केवल हगामष नाम के ही मिलते हैं। हगान और हगामष के सिक्कों पर एक ओर लक्ष्मी तथा दूसरी ओर घोड़े का अंकन मिलता है।[32]

शूरसेन जनपद से प्राप्त एक शिलालेख पर सं. 72 का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार शोडास के राज्यकाल में जैन भिक्षु की शिष्या अमोहिनी ने एक जैन आयागपट्ट की स्थापना करवायी थी।[33] शक शासक शोडास के शासनकाल में जैन एवं बौद्ध धर्म को समान रूप से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। जैन धर्म का प्रचार-प्रसार अपनी गति से सामान्य जनता तक पहुंचता रहा।

शकों की एक शाखा के रूप में कुषाण वंश का मगध पर आधिपत्य स्थापित हुआ। ई. पू. प्रथम शती में भारतवर्ष के साथ सम्पर्क से कुषाणों ने भारतवर्ष की सभ्यता को अंगीकार किया और यहां की संस्कृति में रच-बस गये।

शूरसेन जनपद में ब्राह्मण धर्म का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से ही रहा है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक यह जनपद मुख्य रूप से हिन्दू नगरी

के रूप में विख्यात रही है।[34] जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के उद्भव के पश्चात् शूरसेन जनपद विभिन्न धर्मों के पवित्र स्थल के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[35] शूरसेन जनपद से प्राप्त कुषाण कालीन जैन कलाकृतियों से यह ज्ञात होता है कि कुषाण शासकों ने वैदिक धर्म के साथ-साथ जैन एवं बौद्ध धर्म को भी प्रोत्साहन प्रदान किया तथा उसके प्रचार-प्रसार में सहयोग किया।[36]

उपलब्ध पुरातात्विक अवशेषों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि कुषाणों के शासनकाल में जैन धर्म अपने सर्वोच्च शिखर पर था और तीव्रगति से इसका प्रचार-प्रसार हो रहा था।[37] कुषाण कालीन अभिलेखों से तत्कालीन जैन धर्म की स्थिति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। कुषाण शासकों ने जैन धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया।[38]

कुषाण शासकों की धर्म सहिष्णु नीति मथुरा में जैन धर्म एवं कला के विकास में सहायक रही है। इसी काल में जैन मूर्तियों का निर्माण प्रचुर संख्या में हुआ।

कुषाण काल की अधिकांश जैन प्रतिमाओं पर लेख उत्कीर्ण है जो ब्राह्मी लिपि तथा प्राकृत भाषा में है। जैन संघ के गणों, गच्छों, कुलों, शाखाओं का उल्लेख अभिलेखों में है।[39]

कुषाण काल में जैन तीर्थकरों की उपासना के लिए विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों द्वारा आयागपट्ट निर्मित कराने का उल्लेख प्राप्त होता है। इन आयागपट्टों पर तीर्थकरों की पूजा के लिए अलग-अलग प्रतीकों का अंकन मिलता है।[40]

शूरसेन जनपद में जैन धर्म के विकास में जनपद के शासक वर्ग, व्यापारी एवं सामान्य जनता का सहयोग रहा है। इससे ज्ञात होता है कि शूरसेन जनपद में जैन संघ अत्यधिक सुसंगठित था। शूरसेन जनपद के कंकाली टीले से प्राप्त अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि अधिकांश जैन तीर्थकरों की मूर्तियां जैन श्रावक एवं श्राविकाओं

द्वारा निर्मित कराई गई। ये लोग अधिकांशतः मध्यम वर्ग से सम्बन्धित थे।[41]

कुषाण काल में आन्तरिक शान्ति व्यवस्था थी। फलस्वरूप व्यापार को बढ़ावा मिला। व्यापारियों एवं व्यावसायियों ने देश-विदेश से व्यापार करके धन अर्जित किया जिसका उपभोग उन्होंने धार्मिक कार्यों, स्मारकों तथा मूर्तियों के निर्माण में किया। कुषाणों के युग में मथुरा कला शैली का जन्म हुआ मथुरा कला शैली की समकालीन गान्धार कला का भी विकास हुआ। मथुरा कला के अन्तर्गत लाल चित्तीदार बलुआ पत्थरों से कलाकृतियों का निर्माण हुआ। मथुरा कलाओं के अन्तर्गत प्रतिमाओं एवं आयागपट्टों के द्वारा मूर्ति विज्ञान की विशेषताओं का प्रादुर्भाव हुआ। मथुरा कला शैली विशुद्ध भारतीय थी। मथुरा कला शैली की प्रतिमाओं पर अलंकृत प्रभामण्डल, वक्ष पर श्रीवत्स तथा हथेली और तलुवों पर धर्म चक्र का अंकन सर्वप्रथम दृष्टिगत होता है। मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों की मांग सर्वत्र होती थी। मथुरा कला की मूर्तियों में भाव एवं कथानक दोनों भारतीय हैं।

कुषाण काल में शूरसेन जनपद में जैन धर्म सर्वाधिक जीवन्त रहा है। साधु-साध्वियों के साथ-साथ कनिष्क, हुविष्क और वाशिष्क तथा वासुदेव आदि कुषाण राजाओं के नामों का उल्लेख अभिलेखों से ज्ञात होता है। इनके अतिरिक्त सहस्त्र धर्म भक्त श्रावकों, एवं धर्मनिष्ठ महिलाओं के नामों का पता चलता है।[42]

विभिन्न धार्मिक कार्यों, निर्माण कार्यों एवं दान देने वाले स्त्री-पुरुषों की जाति या वर्गों एवं व्यवसायों के नाम उल्लिखित हैं। अनेक व्यवसायों जैसे– लोहिक[43], रंगरेज[44], सार्थवाह[45], सुनार[46], नर्तक[47], ग्रामिक[48] और जौहरी[49] आदि विभिन्न व्यवसायों में रत स्त्री-पुरुषों के नाम उस काल में जैन धर्म की व्यापकता के सूचक हैं।

इसके अतिरिक्त गन्धी[50], गन्धी की मां[51], पत्नी[52] एवं पुत्रवधु द्वारा दान में दिए गए आयागपट्ट का उल्लेख मिलता है। इन साक्ष्यों से स्पष्ट

होता है कि तत्कालीन समय में सभी वर्गों में जैन धर्म स्वीकार करने की उत्सुकता थी। उपर्युक्त वर्णों के द्वारा जैन धर्म को अंगीकार करना तथा उसके प्रचार-प्रसार में योगदान देना आदि महत्वपूर्ण तथ्यों से स्पष्ट होता है कि उस समय समाज में समानता विद्यमान थी। सभी वर्ण के व्यक्ति स्वेच्छा से दान कर सकते थे।

शूरसेन जनपद के कंकाली टीले से प्राप्त अवशेषों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि धम्मघोषा नामक स्त्री ने एक जैन मन्दिर का प्रासाद दान में दिया था।[53] एक अन्य स्त्री उझत्तिका द्वारा महावीर स्वामी की मूर्ति तथा देवकुल दान में दिया गया था।[54]

लवण शोभिका की पुत्री वसु नामक गणिका ने एक सुन्दर आयागपट्ट दान में दिया था।[55]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि कुषाण काल में स्त्रियों की स्थिति अत्यधिक सम्मान जनक थी। जैन धर्म में एक गणिका को भी यह अधिकार था कि वह धार्मिक दान कर सकती थी। मथुरा कला के अन्तर्गत निर्मित जैन मूर्तियां एवं अन्य कलाकृतियां विश्व प्रसिद्ध रही हैं।

कुषाण कालीन ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें विदेशी महिलाओं के नाम उल्लिखित हैं। जैसे– उझत्तिका[56], ओखारिका[57], ओखा[58], ओघा[59] और आका[60] आदि।

जैन धर्म सभी के लिए समान था। उच्च वर्ण, निम्न वर्ण तथा विदेशियों ने भी जैन धर्म को अंगीकार किया और उसके प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुषाण शासकों की धार्मिक सहिष्णुता का सर्वाधिक परिचय शूरसेन जनपद से प्राप्त पुरावशेषों के अध्ययन से मिलता हैं

कुषाणकाल में जैन धर्मानुयायियों को निर्ग्रन्थ भी कहा जाता था।[61] अभिलेखीय साक्ष्य में जैनों के लिए अर्हत शब्द भी मिलता है।[62]

शूरसेन जनपद के कंकाली टीले की खुदाई से कुषाण कालीन तीर्थंकर प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। यह प्रतिमाएँ चार प्रकार की हैं– प्रथम

कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी प्रतिमाएं, दूसरी पद्मासन में बैठी हुई प्रतिमाएं, तीसरी खड़ी हुई सर्वतोभद्रिका और चौथी उसी तरह की आसन लगाई हुई मुद्रा में प्रतिमाएं।[63]

कुषाण शासक कनिष्क के समय में शूरसेन जनपद का सर्वाधिक विकास हुआ। यह जनपद राजनैतिक केन्द्र होने के साथ-साथ धर्म, कला, साहित्य एवं व्यापार का भी प्रमुख केन्द्र बना। कनिष्क बौद्ध धर्मानुयायी था लेकिन वह एक धर्म सहिष्णु शासक था।[64] उसने जैन धर्म को भी प्रोत्साहन प्रदान किया।

कनिष्क के समय में देशी व्यवसाय की भी उन्नति हुई और साथ ही विदेशों के साथ महत्वपूर्ण सम्पर्क भी स्थापित हुआ। पाटलिपुत्र से सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, मथुरा, पुरुषपुर आदि नगरों से होता हुआ एक बड़ा व्यापारिक मार्ग खोतान तथा काशगर को जाता था। काशगर से चीन के लिए मार्ग जाता था।[65]

जैन ग्रन्थों में शूरसेन जनपद को एक महत्वपूर्ण व्यापारिक स्थल के रूप में दर्शाया गया है जो वस्त्र निर्माण के लिए विशेष महत्वपूर्ण था।[66] व्यापार के लिए शूरसेन जनपद सर्वाधिक प्रसिद्ध केन्द्र रहा है।

कुषाणों के समय में शूरसेन जनपद का महत्व बढ़ा। विविध धर्मों का विकास होने के साथ यहां स्थापत्य और मूर्तिकला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। शूरसेन की राजधानी मथुरा में निर्मित मूर्तियों की मांग देश के कोन-कोने में होती थी।[67]

उत्तर भारत में प्रमुख राजमार्गों पर स्थित होने के कारण शूरसेन जनपद की व्यावसायिक उन्नति भी हुई। इस काल में संगठित रूप में विविध शिल्पों और व्यापार के संचालन के उदाहरण इस जनपद में मिलते हैं।[68]

उत्तरापथ मार्ग पर पड़ने वाले प्रमुख सांस्कृतिक एवं व्यापारिक केन्द्र सकल, इन्द्रप्रस्थ, कान्यकुब्ज, प्रयाग, वाराणसी और पाटलिपुत्र आदि थे।[69]

उत्तर भारत का प्रमुख मार्ग ताम्रलिप्ति से चम्पा, वाराणसी, कौशाम्बी, शूरसेन, सकल, तक्षशिला होकर पुष्कलावती पहुंचता था। पुस्कलावती से खैबर के दर्रे, काबुल की घाटी, हिन्दु कुश को पार कर बैक्ट्रिया पहुंचता था। शूरसेन की राजधानी से एक मार्ग मालवा की राजधानी धार तक जाता था।[70]

कुषाण सम्राटों के शासन-काल में शूरसेन जनपद में विद्या-कला और उद्योग-वाणिज्य के सभी अंगों ने प्रगति की थी। कुषाण काल में मूर्तिकला की विशेष उन्नति हुई। कुषाण शासक बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने जैन एवं भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार में सहयोग दिया। फलस्वरूप जैन मूर्ति विज्ञान का विकास हुआ।[71]

कुषाणकाल में जैन धर्मानुयायियों ने जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण कराकर दान में दिया। प्रमुख मूर्तियों में ऋषभनाथ[72], शान्तिनाथ[73], अरिष्टनेमि[74], पार्श्वनाथ[75] और महावीर स्वामी[76] आदि। कुषाण कालीन सरस्वती की मूर्ति भी बहुत प्रसिद्ध है।[77] सरस्वती की प्रतिमा ब्राह्मण एवं जैन धर्म दोनों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह प्रतिमा देवियों की प्राप्त सभी प्रतिमाओं में सर्वप्राचीन है। सरस्वती की प्रतिमा से यह सिद्ध होता है कि कुषाण काल में जैन धर्म अपनी सर्वश्रेष्ठ स्थिति में था।[78]

कुषाण काल में जैन भक्तों ने अनेक आयागपट्ट भी निर्मित कराये। यह आयागपट्ट एक पूजार्थक शिलापट्ट होते थे। ये आयागपट्ट अलंकृत है जिस पर स्वास्तिक, श्रीवत्स, मत्स्य युगल और पुरुष एवं स्त्री भक्तों का अंकन किया गया है।

कुषाण कालीन एक आयागपट्ट[79] की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें स्तूप वास्तु का पूरा नक्शा उत्कीर्ण है। स्तूप पर एक लेख उत्कीर्ण है जिसके अनुसार गणिका लवणशोभिका की पुत्री गणिका वसु ने सभा भवन, देविकुल, प्याऊ और शिलापट्ट की स्थापना की। इसमें अर्हत वर्धमान को अभिवादन किया गया है।

कालान्तर में कुषाण साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। दूसरी शताब्दी ई. के अन्त तक शूरसेन जनपद के राजनीतिक मंच पर नाग वंश का उदय हुआ। कुषाण साम्राज्य को ध्वस्त करने वाली शक्तियां नाग, मद्य, यौधेय, माधेय, मालव, कुणिंद और वाकाटक वंशीय राज्यों की थी।[80]

नागों के आधिपत्य के फलस्वरूप व्यापार शिथिल पड़ गया क्योंकि राजनीतिक एकता विखण्डित होने लगी थी। भारतवर्ष की प्राचीन जातियों में नाग जाति का उल्लेख मिलता है और यह अनार्य जाति थी। कुषाण शासन का अन्त करने में नाग जाति की महत्वपूर्ण भूमिका थी।[81]

भारशिव नाग शैव धर्मानुयायी थे और भारतीय संस्कृति के पोषक एवं रक्षक थे। वे अत्यन्त वीर थे। नाग जाति शैव धर्मानुयायी थी परन्तु उनके शासनकाल में जैन धर्म तथा अन्य धर्मों की गतिविधियां भी प्रचलित थीं।

नागों ने अपना वैवाहिक सम्बन्ध महत्वपूर्ण राजवंशों के साथ स्थापित किये थे। वाकाटक वंश के गौतमी पुत्र का विवाह पद्मावती के शासक भवनाग की पुत्री से सम्पन्न हुआ था। महान सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजमहिषी कुबेरा देवी नागवंश की राजकुमारी थी।

नाग शासनकाल में भी कुषाणों की भांति इस जनपद को धर्म, कला-कौशल तथा व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। इस जनपद में जैन धर्म, बौद्ध धर्म तथा वैष्णव धर्म का समान रूप से प्रचार-प्रसार होता रहा।

नाग शासन के पतन के पश्चात् यह जनपद गुप्त सम्राटों के शासन के अधीन आ गया। गुप्त सम्राट की नीति धार्मिक सहिष्णुता की थी अतः उन्होंने सभी धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहित किया।

गुप्त शासक वैष्णव धर्मावलम्बी थे परन्तु उनके राज्य में प्रजा स्वतन्त्र थी। प्रजा पर कोई राजधर्म नहीं था। प्रजा अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को अंगीकार कर सकती थी। गुप्त सम्राटों का किसी धर्म

से द्वेष नहीं था। उन्होंने कभी भी विपरीत धर्मानुयायियों को कष्ट नहीं दिया।[82]

भारतीय इतिहास में गुप्त शासनकाल को स्वर्णयुग कहा गया है। इस जनपद पर गुप्तों के शासन काल में सर्वत्र सांस्कृतिक विकास हुआ। जैन धर्म की प्रतिमाओं की प्राप्ति से यह ज्ञात होता है कि गुप्तों के समय में जैन धर्मानुयायी स्वतन्त्र रूप से अपने धर्म का पालन करते थे। धर्म के साथ-साथ व्यापार का भी विकास हुआ और विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ।

गुप्त सम्राटों ने अपनी वीरता एवं योग्य शासन-क्षमता से उत्तर भारत को एकसूत्र में स्थापित किया। शूरसेन जनपद भी मगध साम्राज्य के अधीन हो गया और उस पर गुप्तों का शासन प्रारम्भ हो गया। गुप्त वंश के समय में देश में व्यवसाय और व्यापार की स्थिति सुदृढ़ हुई तथा आर्थिक उन्नति प्रारम्भ हुई।

गुप्त शासनकाल में शूरसेन की राजधानी मथुरा और अन्य नगर जैसे भड़ौंच, उज्जैनी, विदिशा, वाराणसी, पाटलिपुत्र और कौशाम्बी महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर थे जो स्थल मार्ग से एक-दूसरे से जुड़े हुए थे।[83]

गुप्त-युग में भारत वर्ष का विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था में था। देश का व्यापार मिस्र, ग्रीस, रोम, पर्सिया, सीलोन, कम्बोडिया, स्याम, चीन और सुमात्रा आदि देशों के साथ होता था।[84]

गुप्त सम्राट वैष्णव धर्मानुयायी थे। परन्तु उनका दृष्टिकोण समभाव था और गुप्त युग में सभी धर्मों को स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वे अपने धर्म की उन्नति के लिए प्रचार-प्रसार कर सकते थे।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन महाकवि कालिदास ने अपनी रचना में शूरसेन जनपद का उल्लेख किया है। कालिदास ने यहां के जनपद के निवासियों का आचार-व्यवहार सर्वश्रेष्ठ बताया है।[85] शूरसेन जनपद की गणना कालिदास ने अन्य बड़े जनपदों के साथ किया है।

चौथी शताब्दी ई. में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा में जैन आगमों का संकलन करने के लिए एक धर्म परिषद का आयोजन किया गया। जैन धर्म में यह आयोजन माथुरी वाचना' के नाम से प्रसिद्ध है।[86]

इसी समय बल्लभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में जैन आगमों को संकलित करने के लिए जैन संगीति आहूत की गई।[87] ये संगीतियां जैन धर्म के प्रचारार्थ एवं जैन साधुओं के संघ को संगठित करने की दृष्टि से बुलाई गई थीं। इन संगीतियों में जैन धर्म के श्रमण एवं श्रमणचर्या के गठन के साथ-साथ जैन धर्म ग्रन्थों की रचना सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का हल निकालने का प्रयास किया गया था।[88]

गुप्त काल में जैन धर्म की स्थिति के विषय में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उस समय के प्राप्त शिलालेखों में तीन जैन शिलालेख डॉ. ब्हूलर[89] के अनुसार गुप्त युग के हैं। कोटियगण की विद्याधरी शाखा के दलिताचार्य के उपदेश से भट्टिभव की पुत्री और गृहमित्रपालित की पत्नी शामाढ्या ने जिन मूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी।[90]

गुप्त राजाओं की विशिष्ट भक्ति विष्णु के प्रति थी। परन्तु धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा को स्थापित करते हुए गुप्त शासकों ने जैन एवं बौद्ध धर्म को फलने-फूलने का अवसर दिया। गुप्त युग में सर्वत्र धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रगति हुई।

गुप्त शासक रण-कुशल, धर्म-प्राण और कला-प्रेमी होने के साथ ही साथ विद्याओं के संरक्षक तथा विद्वानों के आश्रयदाता थे। उनके प्रोत्साहन से कालिदास, विशाखदत्त और रविकीर्ति जैसे नाटककार एवं कवि; आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे गणितज्ञ एवं ज्योतिर्विद तथा अमरसिंह जैसे कोशकार ने विविध विद्याओं के प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया था।[91] धार्मिक समन्वय का जो कार्य नाग काल में प्रारम्भ हुआ, गुप्तकाल में उसका अत्यधिक विकास हुआ।

गुप्तकालीन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में ऋषभ[92], नेमिनाथ[93] और पार्श्वनाथ[94] की मूर्तियों को उनके लांछन के द्वारा चिन्हित किया गया है। प्रतिमाओं के वक्ष स्थल पर श्रीवत्स लांछन से भी जैन मूर्तियों की पहचान की गई है।[95]

श्रीवत्स के अतिरिक्त जिन प्रतिमाओं की हथेली एवं तलुवों पर धर्म-चक्र[96] का अंकन किया गया है। ध्यानमुद्रा में प्राप्त तीर्थंकरों में मथुरा से प्राप्त महत्वपूर्ण कृति है।[97]

गुप्तकाल की महावीर स्वामी की प्रतिमाएं दुर्लभ है। लाल चित्तीदार बलुए पत्थर की कायोत्सर्ग प्रतिमा के दो चरण चौकी महावीर स्वामी की शेष है।[98]

गुप्त शासकों के समय में शूरसेन जनपद की उन्नति हुई परन्तु परवर्ती गुप्त शासकों के समय में जैन धर्म से सम्बन्धित कलाकृतियों का अभाव परिलक्षित होने लगता है। फलस्वरूप जैने धर्म एवं शूरसेन जनपद पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये। विदेशी आक्रमणों के द्वारा सब कुछ नष्ट हो गया और पुनः शूरसेन एवं जैन धर्म की स्थिति सर्वोच्च नहीं रही।

गुप्त सम्राट कुमार गुप्त के समय में उत्तर-पश्चिम की ओर से हूणों का आक्रमण प्रारम्भ हो गया। स्कन्दगुप्त ने हूण आक्रमण को दबा दिया। परन्तु परवर्ती गुप्त सम्राट न तो अधिक शक्तिशाली थे और न ही दूरदर्शी, फलस्वरूप हूणों ने दक्षिण-पूर्व से होकर तक्षशिला आदि भव्य नगरों को उजाड़ते हुए मथुरा को लूटते हुए मध्य भारत तक चले गये थे।[99]

शूरसेन जनपद उस समय अपनी समृद्धि पर था और वहां पर अनेक जैन, बौद्ध एवं भागवत उपासना गृह थे जिन्हें हूणों ने नष्ट कर दिया। शूरसेन जनपद की अनेक सुन्दर मूर्तियां खण्डित हो गई। यहां के धार्मिक स्थलों एवं विद्या-भवनों में जो अमूल्य ग्रन्थ-राशि संग्रहीत थी, उसे जलाकर समाप्त कर दिया गया। हूणों के उस भीषण आक्रमण ने मथुरा के गुप्त कालीन सांस्कृतिक वैभव को घोर आघात पहुंचाया।[100]

हूणों के आक्रमण के कारण शूरसेन जनपद की संस्कृति प्रभावित हुई। जैन धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास होता चला गया। जैन धर्म से सम्बन्धित अधिकांश कलाकृतियां खण्डित हो गईं। हूण विदेशी थे। अतः उनके आक्रमण के कारण देश की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति में बांधा उत्पन्न हुई और देश की एकता खण्डित हो गई।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष में केन्द्रीय शक्ति का अभाव हो गया। किसी भी शक्तिशाली सार्वभौमिक शासन-सत्ता की कमी के कारण सब जगह छोटे-बड़े राज्य अस्तित्व में आने लगे। यह सभी छोटे-बड़े राज्य आपस में मिलकर लड़ते रहते थे और देश की शान्ति-व्यवस्था को आघात पहुंचाते रहते थे।[101]

सम्राट हर्षवर्धन के पहले तक कोई ऐसी प्रबल केन्द्रीय सत्ता नहीं थी जो छोटे-छोटे राज्यों को सुसंगठित करती। ई. छठी शती के मध्य से मौखरी, वर्धन, गुर्जर, मैत्रक, कलचुरि आदि कई राजवंशों का उदय हुआ।[102] इस जनपद पर मौखरी, वर्धन तथा गहड़वाल वंशों का शासन रहा।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद मौखरी शासक ईशानवर्मन ने *'महाराजधिराज' की उपाधि धारण की। अन्तिम मौखरी शासक गृह* वर्मन के साथ हर्ष वर्धन की बहन राज्यश्री का विवाह हुआ था।[103]

पुष्यभूति नामक राजा ने थानेश्वर और उसके आस-पास एक नये राजवंश की नींव डाली। हषवर्धन इस वंश का प्रतापी शासक था जिसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक था। हर्षवर्धन के शासन के अन्तर्गत शूरसेन जनपद था और हर्ष के शासनकाल में सभी धर्मों को अपना प्रचार-प्रसार करने के लिए समान अवसर प्राप्त थे। हर्षवर्धन सभी धर्मों का समान आदर करता था।[104]

हर्ष के शासनकाल में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत की यात्रा की और उसने तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों पर महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किया है। उसने बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन

धर्म की स्थिति का भी वर्णन किया है। उस समय तीर्थकर के अनुयायी एवं देवालय विद्यमान थे। ह्वेनसांग ने मथुरा की स्थिति एवं व्यक्ति के व्यवहार तथा आमों की किस्मों का भी वर्णन किया।[105]

ह्वेनसांग सन् 635 ई. में वैराट से होकर मथुरा पहुंचा। वह शरद ऋतु में मथुरा आया और पन्द्रह दिन ठहरा।[106]

हर्ष के शासन काल में प्रजा सुखी थी। वह अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था। मथुरा में उस समय पौराणिक हिन्दू धर्म का जोर हो चला था। सभी धर्मों के अनुयायियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। हर्ष धार्मिक सहिष्णु था।

हर्षवर्धन प्रबल योद्धा, सुयोग्य शासक, महादानी, विद्याप्रेमी और उच्चकोटि का साहित्यकार था। उसके रचे हुए ग्रन्थ रत्नावली प्रियदर्शिका और नागानन्द उपलब्ध है। वह विद्वानों, धर्माचार्यों और कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार का सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट था, जिसने संस्कृत में 'हर्ष-चरित' और 'कादम्बरी' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। हर्ष प्रति पांचवें वर्ष प्रयाग में एक 'मोक्ष परिषद' का आयोजन करता था।[107]

हर्ष की मृत्यु के बाद कन्नौज में केन्द्रीय शक्ति का अभाव परिलक्षित होता है। कन्नौज पर आधिपत्य करने के लिए पाल, प्रतिहार और राष्ट्रकूट राजवंशों के बीच होने वाला त्रिकोणात्मक संघर्ष सर्वविदित है। यह बहुत महत्वपूर्ण घटना थी।

ग्यारहवीं शती ई. का इतिहास विभिन्न स्वतन्त्र राजाओं से सम्बन्धित है, जिनमें बहुत से राजाओं ने अपना राजनीतिक जीवन प्रतिहारों के अधीन प्रारम्भ किया था। प्रमुख राजवंशों में दिल्ली के चौहान, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार थे।

उपर्युक्त राजवंशों के साथ-साथ गहड़वालवंश, चन्देलवंश और कल्चुरि राजवंश भी महत्वपूर्ण हैं। इन राजवंशों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था।[108]

शूरसेन जनपद गहड़वाल वंश के अधीन रहा। सन् 1194 तक मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान के साथ-साथ गहड़वाल वंशी शासक जयचन्द को पराजित कर हिन्दू शाहीवंश का अन्त कर दिया। सन् 1206 ई. तक मुस्लिम शासकों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।[109]

मथुरा में भयंकर लूट-पाट जारी रही। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मथुरा की मूर्तियों एवं मन्दिरों को नष्ट कर दिया तथा भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया।

मध्ययुगीन जैन स्थलों में शूरसेन जनपद का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यहीं से दिगम्बर-श्वेताम्बर का भेद भी प्रारम्भ हुआ। लखनऊ संग्रहालय में श्वेताम्बर मूर्तियों के दर्शन होते हैं।[110]

शूरसेन जनपद से मध्यकालीन छः प्रतिमाएं प्राप्त हुई जिनमें तीन ऋषभदेव की कायोत्सर्ग मुद्रा में है।[111]

बटेश्वर से एक तेरहवें जिन विमलनाथ[112] की प्रतिमा दसवीं शती की मिली है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है।

दसवीं शती की दो प्रतिमाएं नेमिनाथ[113] की प्राप्त हुई है जो ध्यानमुद्रा में विराजमान है। बटेश्वर से एक पार्श्वनाथ की मूर्ति दसवीं शती की मिली है।[114]

दसवीं शती की कंकाली टीले से एक जिन चौबीसी मिली है जो ब्राह्मीलिपि में अभिलिखित है। ऋषभदेव मूल में पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ है।[115]

बटेश्वर से बारहवीं शती की एक नेमिनाथ की पंचतीर्थी प्राप्त हुई। वक्षस्थल पर श्रीवत्स अंकित है।[116]

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विदेशी आक्रमणों के बाद भी जैन धर्म साधारण जनता के हृदय में विद्यमान था। जैन धर्म की कलाकृतियां गुप्तोत्तर काल से कम मिलती है, परन्तु

प्राप्त पुरावशेषों से स्पष्ट होता है कि जैन धर्म सदैव जन धर्म के रूप में सर्वदा विद्यमान और प्रगतिशील रहा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गरुड़ पुराण, 2:28.3
2. मनुस्मृति, 2-17, 19, 20
3. जिनसेनाचार्य; महापुराण, पर्व 16, श्लोक 155
4. जिनप्रभसूरि, 'विविध तीर्थकल्प' पृ. 17, 85
5. विवाग सूय, 6
6. 40, 6-58
7. अध्याय, 10
8. तृतीय वर्ग, सूक्त 4
9. कल्पसूत्र, पृ. 267
10. उपासकदशा, 7 वां अंग
11. समवायांग सूत्र, 11
12. जैन, जगदीशचन्द्र; जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 17
13. आचार्य हेमचन्द्र; परिशिष्टपर्वन, 9.54, मुखर्जी, आर. के.; चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 39-41।
14. जैन, ज्योतिप्रसाद; उत्तर प्रदेश में जैन धर्म का उदय और विकास, पृ. 8-10।
15. थापर, रोमिला; अशोक एण्ड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्यज, पृ. 137-82, मुखर्जी, आर. के.; अशोक, पृ. 54-55।
16. आचार्य हेमचन्द्र; पू.नि. 9.54
17. यादव, झिनकू; जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ. 48
18. बृहतकल्पसूत्र भाष्य, 3, 3275-89

19. जैन, ज्योतिप्रसाद; उत्तर-भारत में जैन धर्म का उदय और विकास, पृ. 8

20. "साकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति" महाभाष्य, 5, 3, 57

21. वाजपेयी, कृष्णदत्त; मथुरा, पृ. 16-17

22. विविधतीर्थकल्प, पृ. 1-10

23. सरकार, डी.सी; सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, ख-1, पृ. 213

24. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 354

25. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 253

26. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 66.46

27. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 7, जे. 25

28. हर्बर्ट हर्टल; द एक्सकेवेशन्स ऐट सोंख, ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट : जर्मन स्कालर्स आन इंडिया, भाग-2, पृ. 88, चित्र 27

29. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 267, जे. 1

30. वाजपेयी, कृष्णदत्त; ब्रज का इतिहास, पृ. 79

31. वाजपेयी, कृष्णदत्त; भारत के सांस्कृतिक केन्द्र मथुरा, पृ. 8

32. जे. एलन, क्वायंस ऑफ ऐश्येंट इंडिया, भूमिका, पृ. 111-12

33. सरकार डी.सी.; पू.नि. पृ. 118-19

34. काणे, पी.वी.; हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग IV, पृ. 689

35. श्री निवासन, डी.एम.; मथुरा – दि कल्चरल हेरिटेज, पृ. 64; अग्रवाल, वी.एस.; मास्टर पीस ऑव मथुरा स्कल्पचर, पृ. 1

36. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग X पृ. 2

37. पू.नि. 1.2: स्मिथ, वी.ए.; दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज ऑव मथुरा, पृ. 1

38. कनिंघम, ए.; ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, भाग-III, पृ. 46
39. भगवतीसूत्र, 7.1.255
40. समराइच्चकहा – खण्ड-I, पृ. 58
41. पू.नि. खण्ड-3, पृ. 217; एपिग्राफिया इण्डिका, X, परिशिष्ट, सं. 102
42. एपिग्राफिया इण्डिका, X, सं. 102; राजकीय संग्रहालय मथुरा, संख्या क्यू-2; पुरी, बी. एन., इण्डिया अण्डर दि कुषाण, पृ. 149
43. एपिग्राफिया इण्डिका, संख्या 29
44. पू. नि., सं. 32
45. पू. नि., सं. 30
46. पू. नि., सं. 95
47. पू. नि., सं. 100
48. पू. नि., सं. 48
49. पू. नि., सं. 53
50. पू. नि., सं. 39
51. पू. नि., सं. 37
52. पू. नि., सं. 76
53. पू. नि., सं. 99
54. पू. नि., सं. 78
55. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या क्यू.-2
56. एपिग्राफिया इण्डिका, X, परिशिष्ट, सं. 78; तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद; जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 18
57. पू. नि., सं. 78
58. पू. नि., सं. 78
59. पू. नि., सं. 29, तिवारी, पू. नि., पृ. 18, पुरी, बी. एन.; पू. नि., पृ. 152

60. पू. नि., सं. 48

61. पू. नि., सं. 102

62. पू. नि., सं. 59

63. जैन, हीरालाल; भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 234-35

64. बाजपेयी कृष्णदत्त; ब्रज का इतिहास ख-1, पृ. 89, 90

65. चन्द्र, मोती; सार्थवाह, पृ. 15, 16, 24

66. जैन, जे. सी.; लाइफ इन ऐश्येंट इण्डिया; एज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, पृ. 114-15

67. वाजपेयी, कृष्णदत्त; पू. नि., सं. 93

68. वाजपेयी, कृष्णदत्त; पू. नि., सं. 93, 94

69. चन्द्र, मोती; पू. नि.; पृ. 18-19

70. मिश्र, जयशंकर; ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 11

71. मीत्तल प्रभुदयाल; ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 67

72. एपिग्राफिया इण्डिया, X, परिशिष्ट, सं. 56, 117, 121

73. पू. नि., सं. 27

74. पू. नि., सं. 26

75. पू. नि., सं. 110

76. पू. नि., सं. 18, 28, 31

77. पू. नि., सं. 54

78. पू. नि., सं. 94

79. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या क्यू. 2

80. मीत्तल, प्रभु दयाल; पू. नि., पृ. 68

81. जायसवाल, काशी प्रसाद; हिस्ट्री ऑव इण्डिया (150-350 ई.), पृ. 1-32

82. उपाध्याय, वासुदेव; गुप्त साम्राज्य का इतिहास, खण्ड-1, पृ. 89

83. अल्तेकर, ए.एस.; ईकनॉमिक कण्डीशन, दि वाकाटक गुप्त एज, पृ. 357-58

84. मैती, एस.के.; ईकनॉमिक लाइफ ऑव नार्दर्न इण्डिया इन द गुप्त पिरियड, पृ. 120

85. रघुवंश, सर्ग 45-51

86. नन्दीसूत्र चूर्णि, पृ. 9; शाह, यू.पी.; स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 110-11

87. दशवैकालिक चूर्णि, पृ. 204; आचारांग चूर्णि; पृ. 207

88. यादव, झिनकू; जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ. 124-25

89. एपिग्राफिया इण्डिया, II, लेख सं. 38-40, पृ. 198

90. पू. नि. लेख सं. 39, पृ. 210-211

91. मीत्तल, ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 70

92. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 6, बी. 7

93. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 89, जे. 121

94. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 100

95. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 1, 488, 624

96. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 1, 28

97. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 104

98. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 2

99. बाजपेयी, कृष्णदत्त; मथुरा, पृ. 20-21

100. पू. नि. पृ. 20-21; मीत्तल, ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 71

101. मीत्तल, पृ. नि. पृ. 11

102. बाजपेयी, कृष्णदत्त; पू. नि. पृ. 118

103. पू. नि. पृ. 118

104. जैन, ज्योति प्रसाद; उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. 11

105. टॉमस, वाटर्स; आन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, पृ. 301-13

106. कनिंघम, ए.; ऐश्येंट ज्यॉग्रफी ऑफ इण्डिया, पृ. 646

107. मीत्तल; पू. नि. पृ. 215

108. तिवारी, पू. नि.; पृ. 20-21

109. बाजपेयी, पू. नि. पृ. 21

110. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 142, 143, 144, 145, 776, 885

111. तिवारी, पू. नि., पृ. 86; पांच मथुरा में तथा एक लखनऊ में है।

112. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 791

113. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 37.2738, बी. 77

114. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 813

115. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 57

116. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 793

अध्याय तृतीय

शूरसेन जनपद में जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में सम्पूर्ण भारतवर्ष षोड्श महाजनपदों में विभक्त था जिनमें शूरसेन जनपद का नाम प्रमुख था जिसकी राजधानी मथुरा थी।

धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा नगरी का प्रारम्भ से ही प्रमुख स्थान रहा है। प्रारम्भ से ही मथुरा ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण केन्द्र था।[1]

वर्तमान समय में मथुरा आगरा खण्ड के अन्तर्गत उत्तरी पश्चिमी सीमा पर स्थित है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यमुना नदी के तट पर 27°31' उत्तर अक्षांश तथा 77°14' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। मथुरा का पूर्वी भाग पंजाब की सीमा से मिलता है। इसकी दक्षिणी सीमा पर आगरा, पश्चिमी सीमा पर स्वतन्त्र रूप से भरतपुर स्थित है।

मथुरा की प्रमुख नदी यमुना है जिसे ऋग्वेद में भी उल्लिखित किया गया है।[2] जिसे सूर्यतनया कहा गया है। मथुरा में वन एवं टीले अधिक हैं।

मथुरा पहुँचने के लिए रेलमार्ग एवं बस मार्ग की सुविधा उपलब्ध है। दिल्ली के पूर्व-दक्षिण की ओर जाने वाले पश्चिम तथा मध्य रेलवे की बड़ी लाइन मथुरा से होकर गुजरती है।

भारत के उत्तरी-पश्चिमी तथा दक्षिणी भागों से इन्हीं मार्गों द्वारा रेलों के द्वारा मथुरा पहुँचना सरल है। पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व भारत की ओर से मथुरा पहुँचने के लिए दो मार्ग हैं– प्रथम आगरा से मथुरा जो पूर्व रेलवे लाइन के हाथरस जंक्शन से होकर पहुँचा जा सकता है।

मथुरा में तीन रेलवे स्टेशन हैं—मथुरा जंक्शन, मथुरा छावनी तथा भूतेश्वर। रेल के अतिरिक्त सभी ओर से बस द्वारा भी मथुरा पहुँचा जा सकता है। अब मथुरा के प्रायः सभी निकटवर्ती शहरों से यहाँ तक सरकारी बसें भी आने-जाने लगी हैं।

लखनऊ से आगरा जाने वाली छोटी लाइन का कुछ भाग बड़ी लाइन में परिवर्तित हो गया है और शेष प्रस्तावित है।

मथुरा के नामकरण के विषय में पुराणों में उल्लिखित है कि शत्रुघ्न ने राजा लवण को मारकर मथुरा नामक पूरी को बसाया था।[3] अन्य ग्रन्थों में मथुरा का अन्य नाम 'मेथोरा'[4], 'मदुरा'[5], 'मत-औ-ला'[6], 'मो-तु-लो'[7] तथा शौरीपुर[8] का भी उल्लेख मिलता है।

रामायण में 'मथुरा' एवं 'मधुपुरी'[9] नाम ज्ञात होता है।

अन्य नाम 'मधुपह्ना'; 'मधुषिका' एवं 'मधूपहन' भी उल्लिखित है।[10]

प्लिनी[11] ने यमुना नदी को 'जोमनेस' कहा है जो 'मेथोरा' तथा 'क्लीसोबोरा'[12] के मध्य बहती थी।

मथुरा भगवान कृष्ण की जन्मभूमि के साथ ही साथ जैन धर्म की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रही है।

मथुरा से प्राप्त पुरात्तात्विक अवशेषों से ज्ञात होता है कि यहाँ पर जैन धर्म प्राचीनकाल से लेकर बारहवीं शती तक अपनी सुदृढ़ स्थिति में विद्यमान था।

जिनप्रभसूरि के अनुसार— मथुरा में कुबेरा देवी द्वारा निर्मित एक स्तूप स्वर्ण एवं मणिनिर्मित था जो सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के सम्मान में बनाया गया था। कालान्तर में तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ की मथुरा यात्रा के उपरान्त देवी की आज्ञा से इस पर ईटों का आवरण चढ़ाया गया और उसके पार्श्व में पार्श्वनाथ की एक प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित की गई। महावीर स्वामी के निर्वाण के तेरह सौ वर्षों के बाद बप्पभट्टि सूरि की प्रेरणा से इस स्तूप का जीर्णोद्धार किया गया।[13]

अरिंग

मथुरा तहसील में अरिंग एक कृषि प्रधान गाँव है। यह 27°29' उत्तरी अक्षांश तथा 77°32' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। मथुरा के पश्चिम में 19.31 किमी. और 6.44 किमी. पूर्व में गोवर्धन तक पक्की सड़क जाती है। उत्तर-पश्चिम में राधाकुण्ड तक पक्की सड़क से सम्बद्ध है। बसों के द्वारा यहाँ पहुँचा जा सकता है।

इस स्थान के नाम के विषय में अनेक किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक किवदन्ती के अनुसार कृष्ण ने अरिंगसुर नामक दैत्य का वध किया था। अतः उसके नाम के आधार पर इस स्थान का नाम अरिंग पड़ा।

एक अन्य लोकश्रुति के अनुसार– स्थानीय बाजार का नाम, अरंग था, परन्तु वास्तविक नाम अरिस्थ-ग्राम था। कालान्तर में इसका नाम अपभ्रंश के रूप में अरिंग पड़ा।

यह स्थान चारों ओर चौबीस छोटे वनों से घिरा हुआ है। किलोल कुण्ड नामक तालाब भी इसी स्थान के निकट है। रविवार के दिन वहाँ हाट लगता है।

अरिंग से ही एक जैन प्रतिमा छोटे आकार की प्राप्त हुई है। यह सर्वतोभद्रिका प्रतिमा है। यह नवीं-दसवीं शताब्दी की मूर्ति है। चार तीर्थंकर 'कायोत्सर्ग' मुद्रा में खड़े हैं। यह प्रतिमा तेरह सेमी. ऊँची हैं। वर्तमान समय में यह प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।[14]

कंकाली टीला

कंकाली टीला मथुरा नगर के दक्षिण-पश्चिम में भूतेश्वर क्रॉसिंग एवं बी. एस.ए. कॉलेज के मध्य में स्थित है।

दुर्गा जी का एक रूप कंकाली भी है। अतः हिन्दू कंकाली देवी का मन्दिर यहाँ पर स्थापित होने के कारण इसे कंकाली टीले के रूप में ख्याति मिली है। कंकाली टीले को 'जैनी टीला'[15] भी कहा जाता है। क्योंकि इस स्थान से असंख्य जैन कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं।

यह संरक्षित क्षेत्र है।[16] डॉ. स्मिथ[17] ने कंकाली क्षेत्र को 15000.0 सेंमी. लम्बा तथा 5500.0 सेंमी. चौड़ा बताया है परन्तु कनिंघम महोदय[18] ने 12000.0 सेंमी. लम्बा तथा 8800.0 सेंमी. चौड़ा बताया है।

समय-समय पर इस टीले का उत्खनन कार्य होता रहा है। इन उत्खननों में विशाल मात्रा में जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ, आयागपट्ट, स्तम्भ, छत्र, स्तम्भ-शीर्ष, वेदिका-स्तम्भ, उष्णीष, तोरण-खण्ड, तोरण-शीर्ष, अभिलिखित चरण-चौकी एवं अन्य कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं।

सन् 1871 ई. मार्च और नवम्बर माह में 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' के डायरेक्टर जनरल ए. कनिंघम[19] ने सर्वप्रथम कंकाली टीले के पूर्वी भाग का उत्खनन कार्य करवाया तथा उन्होंने पुनः 1881, 1882, 1883 ई. में भी उत्खनन कार्य किया।[20] जिसमें जैन सामग्री मिली।

1871 से 1877 ई. के मध्य ग्राउस महोदय ने उत्खनन कार्य किया और अनेक कलाकृतियाँ प्रकाश में आईं।[21]

1888 से 1891 ई. के मध्य फ्यूरर महोदय को कंकाली के उत्खनन कार्य में ईटों का एक जैन मन्दिरों के अवशेष तथ अन्य पुरावशेष प्राप्त करने में सफलता मिली जो जैन धर्म एवं उसके स्थापत्यकला के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी के स्रोत है।[22]

ब्यूहलर महादेय[23] का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि कंकाली से प्राप्त अभिलेखों को एक प्रमुख पुस्तक में लिपिबद्ध किया है। ये सभी अभिलेख 150 ई. पूर्व से 1023 ई. के हैं और पुरातत्व की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

कंकाली से केवल जैन धर्म से सम्बन्धित कलाकृतियाँ ही नहीं प्राप्त हुई हैं अपितु वैदिक एवं बौद्ध धर्म से भी सम्बन्धित पुरावशेष उपलब्ध हुए हैं।

कंकाली टीले से उत्खनित सामग्री राजकीय संग्रहालय मथुरा, राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत हैं। इन कलाकृतियों में तीर्थंकरों के

जन्म कल्याण की गाथाएँ उत्कीर्ण हैं। इनके अतिरिक्त जैन मस्तक भी हैं।[24]

ज्ञात साक्ष्यों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कंकाली टीले पर जैन प्रतिष्ठान एक ऐसे स्तूप के चारों ओर स्थापित किया गया था जिसे अत्यन्त श्रद्धा से देखा जाता था। एक शिलालेख में जो कि एक प्रतिमा के पादपृष्ठ[25] भाग पर उत्कीर्ण है तथाकथित देव-निर्मित 'बोदव स्तूप' पर अर्हत नन्द्यावर्त प्रतिमा के प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है।[26]

बृहत्कल्प भाष्य[27] में वर्णित है कि जिस प्रकार धर्मचक्र के लिए उत्तरापथ और जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के कारण कौशल की ख्याति है, इसी प्रकार देवनिर्मित स्तूप से कंकाली टीला प्रसिद्ध है।

देव निर्मित स्तूप के अधिकार को लेकर जैनों एवं बौद्धों में कुछ समय प्रतिद्विन्दिता चलती रही। कालान्तर में लोग स्तूप के निर्माण की वास्तुकला भूल गए और इसे देवनिर्मित मानने लगे। सोमदेव के 'यशस्तिलक चम्पू' में भी इसका उल्लेख मिलता है।[28]

सोमदेव के अनुसार बज्रकुमार ने इसे निर्मित करवाया, जिसके पास विद्याधरों की अलौकिक शक्तियाँ थी।[29]

क्षेत्र से प्राप्त कलाकृतियों में उत्कीर्ण स्तूप आकृतियाँ मिली है जो मथुरा[30], लखनऊ[31], दिल्ली[32] के संग्रहालयों में सुरक्षित है। स्तूप का निर्माण तीर्थंकर की पूजा हेतु किया जाता था। कंकाली टीले का स्तूप पार्श्वनाथ को समर्पित है, सुपार्श्वनाथ को नहीं।[33] जिनप्रभसूरि के अनुसार स्तूप के सामने की आकृति पार्श्वनाथ की है।[34]

मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित कंकाली टीले से जैन तीर्थंकर की प्रतिमाएं दो प्रकार की प्राप्त हुई हैं। ध्यानभाव में पद्मासनासीन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा तथा कायोत्सर्ग मुद्रा में ही सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं। कंकाली टीले से प्राप्त कलाकृतियाँ कुषाणकालीन हैं।[35]

जैन तीर्थकरों के अतिरिक्त जैन देवी जैसे जैन सरस्वती[36] की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो कुषाण युग की है।

कंकाली टीले से प्राप्त आयागपट्ट से तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक दशा का बोध होता है। अष्टमांगलिक प्रतीकों का अंकन सुन्दर रूप से दृष्टव्य है।

तीर्थकरों के लांछन से उन्हें पहचानने में सुविधा होती है। कुषाणकालीन प्रतिमाएं विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि इन पर लेख उत्कीर्ण है।

मथुरा कलाशैली के अन्तर्गत निर्मित प्रतिमाएं, श्रावस्ती, प्रयाग, सारनाथ आदि स्थानों को चौथी शती ई. तक भेजी जाती थीं। मथुरा कला शैली के कलाकार काशी एवं सारनाथ आदि के शिल्पकारों को प्रेरणा प्रदान करते थे।[37]

कोसी कला

कोसी कला छाता तहसील में सबसे बड़े कस्बे के रूप में स्थित है। यह 27°48' उत्तरी अक्षांश तथा 77°26' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। यह मथुरा दिल्ली मार्ग पर स्थित है। यह स्थान राष्ट्रीय राज मार्ग-2 से भी सम्बद्ध है।

कोसी कला मथुरा के उत्तर-पश्चिम में 45.1 किमी. दूर है तथा 11. 27 किमी. तहसील मुख्यालय से दूर है। यह उत्तर-पश्चिम में शेरगढ़ तथा दक्षिण-पश्चिम में नन्दगाँव से पक्की सड़क द्वारा जुड़ा हुआ है।

कस्बे के दक्षिण में केन्द्रीय रेलवे के आगरा-दिल्ली खण्ड पर कोसी कला रेलवे स्टेशन स्थित है। यहाँ पर बस सेवा भी सदैव मथुरा, नन्दगाँव तथा दिल्ली के लिए उपलबद्ध रहती है।

इस स्थान के नाम के विषय में अनेक किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसका नाम कुशस्थली था जिसका दूसरा नाम द्वारका था, जहाँ पर भागवान कृष्ण ने कुछ दिन निवास किया था। फलतः इसका नाम कोसी

कला पड़ा। इस कस्बे में अनेक तालाब थे जैसे रत्नाकर कुण्ड, माभी कुण्ड, गोमती कुण्ड, माया कुण्ड, बिसाखा कुण्ड आदि। इनमें से वर्तमान समय में प्रथम तीन कुण्ड अस्तित्व में हैं।

यह स्थान तालाब के कारण चारों ओर जल से भरा हुआ है और मनमोहक लगता है।

कोसी कला एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक स्थान के रूप में भी प्रसिद्ध है। यहाँ पर दशहरा और भरत-मिलाप के दसवें और ग्यारहवें दिन बहुत बड़ा मेला गलता है। इस मेले में पशुओं का क्रय-विक्रय मुख्य रूप से किया जाता है।

कोसी कला वैष्णव धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का भी प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ से पार्श्वनाथ की प्रस्तर प्रतिमा प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा पर सात सर्पफणों का सुन्दर अंकन किया गया है।

यह मूर्ति पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ है। आकाश में दोनों ओर स्त्री-पुरुष चौरी एवं हार लेकर उड़ रहे हैं। नीचे चरण-चौकी के मध्य में दोनों ओर सिंह का अंकन किया गया है तथा बीच में चक्र उत्कीर्ण है। यह मध्यकालीन कलाकृति है। इसकी लम्बाई 79 सेंमी. है। वर्तमान समय में यह प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में संरक्षित है।[38]

कैन्टूमेन्ट

मथुरा का प्रसिद्ध मोहल्ला कैन्टूमेन्ट है। यहाँ पर बस द्वारा पहुँचा जा सकता है।

कैन्टूमेन्ट से बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की पद्मासनस्थ ध्यानमुद्रा में प्रतिमा प्राप्त हुई है। सिंहासन के नीचे दो छोटे-छोटे स्तम्भ और दोनों ओर एक-एक सिंह स्थित है। दोनों सिंह सिंहासन को उठाये हुए प्रतीत होते हैं। सिंहासन की चौकी के दोनों सिंहों के मध्य अलंकृत वस्त्र के समान लटक रहा है।

सबसे नीचे चरण-चौकी के मध्य एक चक्र स्थित है। भगवान नेमिनाथ का मस्तक अलंकृत प्रभामण्डल से सुशोभित है। प्रतिमा के दोनों ओर दो मुख्य आकृतियाँ विद्याधरों को उड़ते हुए प्रदिर्शत किया गया है। मस्तक के दोनों ओर गन्धर्व एवं अप्सरा को अंकित किया गया है। गन्धर्व के हाथ में हार तथा अप्सरा के हाथ में फूलों का अंकन किया है।

तीर्थंकर की आँखें अर्द्ध-उन्मीलित हैं तथा नाक एवं होठों का कुछ भाग खण्डित है। केश घुंघराले हैं। वक्ष पर श्रीवत्स का लांछन उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा नवीं-दसवीं शताब्दी की है। यह 1.36 सेंमी. ऊँची है। वर्तमान समय में यह प्रतिमा राजकीय संगहालय में सुरक्षित है।[39]

कटरा केशवदेव

मथुरा तहसील में कटरा केशवदेव नामक स्थान स्थित है। यह स्थान कंकाली टीले से 1½ किमी. की दूरी पर स्थित है। कटरा के पश्चिम में कंस किला स्थित है। कटरा से हसनगंज और किले तक पक्की सड़क जाती है।

मथुरा पहुँचने के बाद बस द्वारा कटरा पहुँचा जा सकता है। यहाँ पर कार्तिक पूर्णिमा के सातवें दिन वार्षिक मेले का आयोजन होता है।

कटरा केशवदेव से एक जैन तीर्थंकर की चरण-चौकी का अंश प्राप्त हुआ हैं। सिंहासन में सिंह का मुख एवं एक महिला उपासिका का मुख उत्कीर्ण है। यह चरण-चौकी अभिलिखित है। लेख से यह ज्ञात होता है कि सोमगुप्त की पुत्री मित्रा ने भगवान सुमतिनाथ की प्रतिमा स्थापित करवायी थी।

पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ की यह प्रतिमा कुषाण कालीन है। यह लाल बलुए पत्थर से निर्मित है। मथुरा कला के अन्तर्गत निर्मित तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में यह अभिलिखित चरण-चौकी महत्वपूर्ण है।

इससे तत्कालीन जनसाधारण की स्थिति ज्ञात होती है। वर्तमान समय में यह प्रतिमा राजकीय संगहालय में संरक्षित है।[40]

डेम्पियर नगर

मथुरा के प्रमुख द्वार होली दरवाजा के दक्षिण-पश्चिम की ओर डेम्पियर नगर स्थित है। मथुरा के लोकप्रिय कलेक्टर 'डेम्पियर' के नाम पर 'डेम्पियर नगर' तथा 'डेम्पियर पार्क' की स्थापना हुई। वर्तमान समय में 'डेम्पियर पार्क' का नाम 'भगत सिंह पार्क' है।

यहाँ पर बस सेवा उपलब्ध है। यह कंकाली टीले तक पक्की सड़क से जुड़ा है। यहाँ से कटरा केशवदेव तक पक्का मार्ग निर्मित है। प्रान्त का अति प्राचीन राजकीय संग्रहालय भी डेम्पियर नगर में ही स्थित है।

इस स्थान से बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा का खण्डित भाग प्राप्त हुआ है। दायाँ भाग लुप्त है तथा बायीं ओर मस्तक तक बलराम की आकृति का अंकन किया गया है। नीचे का भाग लुप्त हैं यह प्रतिमा मध्यकालीन है। यह हल्के पीले रंग के प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्ण है। इसकी ऊँचाई 28 सेंमी. है। वर्तमान समय में यह राजकीय संग्रहालय[41] में संरक्षित है।

चौरासी टीला

जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र जैन चौरासी का महत्वपूर्ण स्थान है। मथुरा स्टेशन से 5 किमी. चौरासी क्षेत्र है। इस क्षेत्र पर एक धर्मशाला बनी हुई है।[42] यह गोवर्धन तक पक्की सड़क से जुड़ा हुआ है।

जम्बूस्वामी ने भगवान महावीर के प्रशिष्य सुधर्मा स्वामी से प्रवज्या लेकर मथुरा के इसी स्थल पर तपस्या कर निर्वाण प्राप्त किया था। उन्हें जैन धर्म का अन्तिम केवलि भी माना गया है। उनकी तपस्या और मोक्ष प्राप्ति का पुण्य स्थल होने से यह जैन धर्मानुयायियों का 'सिद्ध क्षेत्र' कहलाता है। जम्बू स्वामी के प्रभाव में आकर अनेक सद्गृहस्थों के

साथ-साथ दस्युओं के जीवन में भी धार्मिकता का उदय हुआ था। उस समय के कई चोर अपने बहुसंख्यक साथियों के साथ दुष्प्रवृत्तियों को छोड़कर तप और ध्यान में लीन हुए थे, जिससे उन्हें भी परमगति प्राप्त हुई थी। कालान्तर में जब जम्बूस्वामी का मन्दिर बना, तब उसके समीप उन तपस्वी दस्युओं के स्मारक भी बनाये गये थे। काल के प्रहार ने उन सबकों नष्ट कर दिया। उनका कोई अवशेष भी अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है।[43] यह जम्बूस्वामी स्थल के नाम से भी जाना जाता है।

चौरासी टीले से एक लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित एक बैठी हुई तीर्थंकर की मूर्ति मिली है। यह प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में है। यह ऋषभनाथ की प्रतिमा मध्यकालीन है। इसकी ऊँचाई 19 सेंमी. है। वर्तमान में यह मथुरा संग्रहालय में स्थित है।[44]

बटेश्वर

आगरा में स्थित बटेश्वर एक महत्वपूर्ण गाँव है। यह 26°56' उत्तरी अक्षांश तथा 78°23' पूर्वी देशान्तर के मध्य में स्थित है। आगरा से बटेश्वर की दूरी सत्तर किमी. है। यह स्थल आगरा के बाह तहसील में अवस्थित है। शौरीपुर से बटेश्वर की दूरी पाँच किमी. है। शिकोहाबाद से बटेश्वर लगभग तीस किमी. दूर है।

आगरा से बटेश्वर तक पक्की सड़क गई है। रेल अथवा बस मार्ग द्वारा आगरा पहुँचने के पश्चात् बस द्वारा बटेश्वर की दूरी तय कर सकते हैं।

इस स्थान के नाम के विषय में अनेक किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक किवदन्ती के अनुसार भगवान शिव के एक नाम बटेश्वरनाथ पर इस स्थान का नाम बटेश्वर पड़ा।

वर्तमान समय में इस स्थान पर बहुत से घाट हैं जो यमुना नदी से निर्मित है। यमुना नदी के किनारे बहुत बड़ा वार्षिक मेला एवं प्रदर्शनी का आयोजन होता है। इस वार्षिकोत्सव में न केवल पड़ोस के जिले से

ही लोग आते हैं, अपितु मध्य प्रदेश और राजस्थान से भी लोग आते हैं। इस मेले में पशुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है।

बटेश्वर से एक जिन[45] चौमुखी दसवीं शती की प्राप्त हुई है। पार्श्वनाथ के मस्तक पर सात फणों का अंकन है। अन्य तीर्थंकरों की पहचान सम्भव नहीं है।

इसी स्थान से एक खड्गासन[46] प्रतिमा ग्यारहवीं शताब्दी की प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा में पाँच सर्पफणों से युक्त पारम्परिक यक्ष-यक्षी का अंकन मिलता है।

एक अन्य प्रतिमा बारहवीं शताब्दी[47] की हल्के गुलाबी रंग के प्रस्तर पर निर्मित है। मूल प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में तीर्थंकर के पार्श्व में बायीं ओर श्री कृष्ण शंख लिए और आसवपात्र हाथ में लिए हुए बलराम खड़े हैं। यह नेमिनाथ की महत्वपूर्ण प्रतिमा है।

बरसाना

बरसाना छत्ता तहसील के अन्तर्गत स्थित है। यह 27°39' उत्तरी अक्षांश तथा 77°23' पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। मथुरा से 49.89 किमी. उत्तरी-पश्चिमी तथा छत्ता से 16.09 किमी. दक्षिण-पश्चिमी और गोवरधन से 19.31 किमी. उत्तरी-पश्चिमी भाग पर स्थित है। सभी एक-दूसरे से पक्की सड़कों से सम्बद्ध है।

इसके नाम के विषय में अनेक किवदन्तियाँ हैं। एक किवदन्ती के अनुसार ब्रह्मा के नाम पर बरसाना पड़ा तथा हिन्दू मान्यता के अनुसार यह राधा का घर था। यहाँ पर राधा जी का मन्दिर है तथा तीन अन्य मन्दिर भी हैं।

बरसाना से जैन तीर्थंकर की बैठी हुई ध्यानमुद्रा में मूर्ति मिली है। यह 1.17 सेंमी. ऊँची है। मस्तक खिलते हुए कमल के समान प्रतीत होता है परन्तु प्रभामण्डल खण्डित है। दायीं एवं बायीं ओर दो विद्याधर उड़ते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। उनमें से दो हाथ में हार लिये हुए हैं तथा

दो अन्तरिक्ष देवता हैं। नीच दो सिंहों के मध्य में धर्मचक्र का अंकन है। यह मध्यकालीन है। मथुरा[48] संग्रहालय में स्थित है।

भूतेश्वर

भूतेश्वर से एक चौमुखी मूर्ति का अधोभाग प्राप्त हुआ है। यह प्रतिमा अभिलिखित है। यह कुषाण काल में निर्मित हुई है। यह लाल बलुआ पत्थर से निर्मित है। प्रतिमा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसे ऋषिदास की प्रेरणा पर अभिसारिक के भट्टिदामन ने स्थापित कराया था।

अभिसारिक पेशावर के पास हजारा बताया गया है। भट्टिदामन विदेशी था। जिसने मथुरा आकर जैन धर्म स्वीकार किया था।[49] यह प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में स्थित है।[50]

इस प्रतिमा की प्राप्ति से यह ज्ञात हुआ है। कि कुषाण काल में जैन धर्म विदेशियों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र था। विदेशी अनुयायियों ने जैन धर्म के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

महावन

महावन मथुरा जिला सादाबाद की तहसील में स्थित है। यह उत्तरी अक्षांश तथा पूर्वी देशान्तर के मध्य में स्थित है। यमुना नदी के दायें तट पर है। मथुरा के दक्षिण-पूर्व में 12;87 किमी. तथा गोकुल के दक्षिण-पूर्व में 1:16 किमी दूर मथुरा सादाबाद तक पक्की सड़क से जुड़ा हुआ है। यहां तक निजी बसें भी चलती है।

महावन से जैन तीर्थकर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति की चरण चौकी प्राप्त हुई है। यह लाल बलुआ पत्थर से निर्मित है। चौकी के निम्न भाग पर शेर का अंकन किया गया है।

यह अभिलिखित चरण- चौकी है। जिसमें तीर्थकर का नाम अंकित है। यह 11.10 सेंमी; ऊंची प्रतिमा है। इस समय यह मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।[51]

मातामठ

माता मठ होली दरवाजा मथुरा से वर्धमान की छोटी प्रतिमा प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा में वर्धमान सिंहासन पर ध्यान मुद्रा में आसीन है। इस प्रतिमा की केवल टांगें और हाथ अवशिष्ट है। स्तम्भ पर स्थित धर्मचक्र की दो पुरुष और दो महिला उपासक पूजा कर रहे हैं। यह अभिलिखित मूर्ति है। लेख के अनुसार कोट्टियगण और बच्छालिक कुल के चोड ने ऋषिदास के साथ वर्धमान महावीर की प्रतिमा स्थापित की। वर्तमान में यह प्रतिमा का अवशिष्ट भाग मथुरा संग्रहालय में स्थित है।[52] यह प्रतिमा कुषाण कालीन है।

सोंख

सोंख 27'29 उत्तरी अक्षांश तथा 77'31 पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। मथुरा के दक्षिण-पश्चिम में 25'7 किमी. दूर है। गोवर्धन तक यह पक्की सड़क द्वारा जुड़ा हुआ है। पक्का मार्ग से ही यह राजस्थान से सम्बद्ध है। मथुरा पहुँचकरर[53] बस द्वारा यहां पहुँचा जा सकता है।

मंगलवार के दिन यहां पर बहुत बड़ा बाजार लगता है।

सोंख एक प्राचीन एवं ऐतिहासिक स्थान है। इसके नामकरण के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। एक जनश्रुति के अनुसार सोंख ग्राम संखापुर दैत्य के नाम पर पड़ा है।[54]

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में शौनिक मुनि यहाँ निवास करते थे। अतः शौनिक मुनि के नाम पर यह सोंख के नाम से विख्यात हुआ। ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार इसकी स्थापना दिल्ली के शासक अनंगपाल ने की थी।[55]

सोंख से प्राप्त पुरातात्विक अवशेष इसकी प्राचीनता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। वर्तमान समय में इसके आसपास के टीले इसकी प्राचीनता के मूक साक्षी हैं।

सोंख का प्राचीन टीला मथुरा से गोवर्धन होकर जाने पर आठ किलोमीटर दक्षिण में स्थित है।[56]

सोंख की पुरातात्विक खुदाई से जर्मन विद्वान हर्टल ने प्रथम शती ई. पू. वाली सत्ताइसवीं पर्त से एक पकी मिट्टी का पँचांगुल प्राप्त किया था। पाँचों खुली उंगलियों वाले इस पँचांगुल की हथेली पर तीन मांगलिक चिन्ह उत्कीर्ण है, बीच में त्रीरत्न और दोनों ओर स्वास्तिक एवं इन्द्रध्वज है।[57]

पंचागुल को मांगलिक प्रतीक माना गया है जिसकी परम्परा आज भी भारतीय लोक जनमानस में प्रचलित है।

सोंख से एक घड़ा प्राप्त हुआ है जिसे जैन धर्म में मंगल कलश के रूप में प्रसिद्धि मिली हुई है। कलश की ग्रीवा के नीचे पिटार पर दो प्रतीक स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं– दक्षिणावर्ती स्वास्तिक और अधोमुखी श्रीरत्न। यह कलश कुषाणकालीन है।[58]

मृत्तिका पँचागुंल द्वारा यह तथ्य प्रकट होता है कि चन्दन अथवा पीठी से पंचागुंल प्रतीक न केवल चित्रित ही किये जाते थे, अपितु मांगलिक अवसरों पर उनके मूर्त स्वरूप का भी प्रयोग किया जाता था।

मिट्टी का यह पँचागुंल प्रथम शती ई. पू. का है और इसकी माप 3.1 सेंमी. × 2.1 सेंमी. है। यह किसी मृण्मूर्ति का अंग न होकर यह एक स्वतन्त्र पँचागुंल है।[59]

सोंख से प्राप्त इस मृत्तिका पँचागुंल के कलात्मक रूप से यह ज्ञात होता है कि इनके निर्माण और उपयोग से उस समय में मथुरा कला के धार्मिक एवं लौकिक दोनों रूप उन्नत अवस्था में थे।

चौबिया पाड़ा

चौबिया पाड़ा से जिन प्रतिमा की चौकी मिली है जिसमें बने चरणों से आभास होता है कि मूर्ति खड़ी होगी। यह लाल बलुए पत्थर से निर्मित है। चरण चौकी के मध्य में धर्म चक्र बना है जिसके एक ओर बाएं हाथ

पर वस्त्र खण्ड लिए जैन मुनि हैं। इसके पीछे तीन पुरुष उपासक हैं। अन्तिम व्यक्ति परिधान से शक प्रतीत होता है। चक्र के दूसरी ओर तीन महिला उपासिकाएं माला और पुष्प लिए हैं। यह अभिलिखित है। अभिलेख का भाव है कि देवपुत्र शाहि कनिष्क के 17वें वर्ष के शीत ऋतु के दूसरे महीने के 25वें दिन कोट्टियगण की बईरा शाखा के सांतिनिक कुल की कौशिकी गृहरक्षित की प्रेरणा पर इस प्रतिमा की स्थापना हुई। यह मथुरा संग्रहालय में स्थित है।[60]

जनरल गंज

जनरल गंज से तीर्थंकर पार्श्वनाथ की बैठी हुई ध्यानस्थ प्रतिमा मिली है। इस पर सात सर्पफणों का अंकन मिलता है। यह लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित है। नीचे के भाग पर नागरी लेख लिखा है। लेख के अनुसार संवत् 1071 = 1014 ई. में वणिक जसराक की पत्नी सोमा ने दान दिया था।[61] यह 1.17 सेंमी. ऊँची है तथा मथुरा संग्रहालय में स्थित है।

बलभद्र कुण्ड

बलभद्र कुण्ड से एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति मिली है। यह प्रतिमा इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें तीर्थंकर का नाम ऋषभनाथ दिया है। तीर्थंकर ध्यान भाव में आसीन हैं, सिर और भुजा लुप्त है, हस्तिनखा प्रणाली से उत्कीर्ण प्रभामण्डल का कुछ भाग शेष है। वक्ष पर श्री वत्स का चिन्ह है तथा हथेली और तलवें पर धर्मचक्र का अंकन है। चरण चौकी पर धर्मचक्र और दस पुरुष व स्त्री उपासक हैं। लेख के अनुसार भगवान अर्हत ऋषभदेव की इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा महाराज राजाधिराज देवपुत्र शाही वासुदेव के राज्यकाल सं. 84 अर्थात् 162 ई. में कुमारदत्त की प्रेरणा से भट्टदत्त उगभिनक की पुत्रवधू ने कराई थी। यह लाल बलुए पत्थर से निर्मित है।[62] यह वर्तमान में मथुरा संग्रहालय में स्थित है।

मोक्ष गली

मोक्ष गली मथुरा से 170 ई. में स्थापित वर्धमान महावीर की मूर्ति का भग्नांश प्राप्त हुआ है। इस प्रतिमा पर धर्मचक्र और उपासकों की आकृतियाँ निर्मित है। इस प्रतिमा का अभिलेख अपूर्ण है। लाल बलुआ पत्थर से निर्मित यह मूर्ति वर्तमान समय में मथुरा संग्रहालय में स्थित है।[63] यह प्रतिमा कुषाणकालीन है।

यमुना नदी

यमुना नदी से तीर्थंकर प्रतिमा की चरण चौकी का अंशमात्र प्राप्त हुआ है। इस प्रतिमा पर चार पंक्तियों का छोटा सा लेख अंकित है। लेख के अनुसार वर्धमान् की इस मूर्ति की प्रतिष्ठा दल की पत्नी, धर्मदेव की पुत्री ने भवदेव के लिए कराई थी। लेख कुषाणकालीन ब्राह्मी लिपि में लिखित है।

यह मूर्ति 23 सेंमी. ऊँची है। यमुना नदी से मिली है तथा वर्तमान में यह मथुरा संग्रहालय में संरक्षित है।[64]

रानीपुरा

रानीपुरा मुहल्ला से जिन चरण चौकी का भाग प्राप्त हुआ है। यह हुविष्क के समय का है। इस चौकी के भाग पर सं. 33 (111 ई.) अंकित है। यह वर्तमान में मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।[65]

सरस्वती कुण्ड

सरस्वती कुण्ड मथुरा से 1 मील की दूर पर दिल्ली मार्ग पर स्थित है। जिन की बैठी हुई ध्यानस्थ मुद्रा में यह प्रतिमा सरस्वती कुण्ड से मिली है, मस्तक विहिन इस प्रतिमा के वक्ष और हथेली पर प्रतीकों का अंकन किया गया है। यह प्रतीक श्री वत्स है। यह वर्तमान समय में मथुरा संग्रहालय की शोभा वृद्धि कर रही है।[66] यह 21.5 सेंमी. ऊँची हैं

शिवपुरसन गाँव

गोवर्धन के निकट शिवपुरसन गाँव स्थित है। यहाँ से जैन तीर्थंकर का मस्तक प्राप्त हुआ है। मस्तक पर घुँघराले बाल हैं। यह गुप्ताकलीन मूर्ति है। यह मस्तक 26.5 सेंमी. ऊँचा है तथा वर्तमान में मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।[67]

शौरीपुर

यमुना के किनारे आगरा से दक्षिण-पूर्व की ओर बाह तहसील से 8 किमी. दूर स्थित है। बटेश्वर से इसकी दूरी 5 किमी. है। शिकोहाबाद से 25 किमी. दूर है। आगरा से बाह के लिए बस से जा सकते हैं। बटेश्वर से शौरीपुर का मार्ग कच्चा है, किन्तु तांगा, कार आदि से जा सकते हैं।

शौरीपुर जैन धर्म, इतिहास और कला की दृष्टि से भी यह स्थान महत्वपूर्ण हैं। जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के गर्भ और जन्म कल्याणक शौरीपुर में हुए थे।

हरिवंश पुराण[68] में उल्लिखित है कि भगवान नेमिनाथ के स्वर्गावतार से छह माह तक इन्द्र की आज्ञा से शौरीपुर के राजा समुद्रविजय के घर देवों ने रत्नों की वर्षा जारी रखी।

जैन ग्रन्थ में भी भगवान नेमिनाथ के जन्म के विषय में महत्वपूर्ण तथ्य उल्लिखित है कि नेमिनाथ जिनेन्द्र शौरीपुर में माता शिवदेवी और पिता समुद्रविजय से बैशाख शुक्ला 13 चित्रानक्षत्र में उत्पन्न हुए।[69]

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि कृष्ण के चचेरे भाई जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ शौरीपुर नगर में उत्पन्न हुए। इस पावन अवसर पर इन्द्रों और देवों ने भगवान के गर्भ और जन्म कल्याणकों का महान उत्सव शौरीपुर में मनाया।[70]

नेमिनाथ के जन्म कल्याणकों के कारण यहाँ की भूमि अत्यन्त पवित्र मानी जाती है। जन्म कल्याणकों के अतिरिक्त यहाँ पर कई अन्य

मुनियों जैसे मुनि श्री यम, श्री धन्य एवं श्री विमलासुत की निर्वाण भूमि मानी जाती है। इसका उल्लेख पौराणिक साहित्य में प्रस्तुत है।[71]

जिन प्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीति महातीर्थ नामक संग्रह के अन्तर्गत शौरीपुर का उल्लेख किया है और इस क्षेत्र में नेमिनाथ मन्दिर होने का भी उल्लेख किया है।[72]

एक कथा इस प्रकार उल्लिखित है कि सप्रतिष्ठ नामक मुनिराज रात्रि के समय ध्यान मुद्रा में थे। पूर्व जन्म के विरोध के कारण सुदर्शन नामक यक्ष ने मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया मुनिराज अविचल रहे। कुछ समय बाद उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए। कुछ समय पश्चात् शौरीपुर नरेश यादववंशी अन्धकवृष्णि और मथुरा नरेश भोजकवृष्णि ने जो दोनों भाई-भाई थे, इन्हीं केवलि भगवान के निकट मुनि-दीक्षा ग्रहण की।[73]

मुनि धन्य को भगवान नेमिनाथ के उपदेश से सिद्ध पद प्राप्त हुआ। शौरीपुर का राजा खाली हाथ शिकार से वापस आ रहा था। उसी समय मुनि धन्य को उसने ध्यान मग्न देखा। राजा ने सोचा कि इन नग्न मुनि के कारण ही उसे कोई शिकार प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण मूर्ख राजा ने वीतराग मुनि धन्य को तीक्ष्ण बाणों से बींध दिया। कर्मों को नष्ट कर मुनि धन्य ने सिद्ध पद प्राप्त किया।[74]

कर्नल टॉड ने 19वीं शती में शौरीपुर की प्राचीनता की ख्याति सुनी थी। कर्नल टॉड के अनुभव से यह ज्ञात होता है कि शौरीपुर नगर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में एक व्यापारिक केन्द्र था।[75]

बाख्त्री वंश के यूनानी राजा अपोलोडोट्स और पार्थववंशी नरेशों का काल ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है। व्यापारिक उद्देश्य से यूनानी एवं पार्थियन सिक्के आते थे।[76]

19वीं शती के अन्तिम दशक में जनरल कनिंघम के सहकारी ए.सी. एल. कार्लाइल[77] ने शौरीपुर के खण्डहरों के सर्वेक्षण किए। कार्लाइल ने शौरीपुर के विस्तृत भग्नावशेषों के विषय मे लिखा है कि यहाँ के लोगों

में एक किवदन्ती प्रचलित है कि प्राचीन काल में एक रानी शौरीपुर से होकर जा रही थी। उसने सामने स्थित भवनों के विषय में पूछा। उसे जब यह ज्ञात हुआ कि यह सभी भवन जैनों के हैं तो उसने उन्हें नष्ट करने की आज्ञा दे दी।

कार्लाइल को शौरीपुर में एक गड्ढे में एक पद्मासनस्थ जैने प्रतिमा प्राप्त हुई। एक अन्य प्रतिमा आदिनाथ की 1025 ई. की प्राप्त हुई है।

11वीं-12वीं शती की दो तीर्थंकर प्रतिमाएं शौरीपुर से कार्लाइल को प्राप्त हुई। यह पद्मासनस्थ प्रतिमाएं हैं।

शौरीपुर के पंचमढ़ी नामक स्थान से 11-12वीं शती की तीन प्रतिमाएं बुलआई पाषाण की भूरे रंग की मिली हैं दो प्रतिमाएं महावीर स्वामी की हैं क्योंकि उनके पार्श्व पर सिंह का लांछन अंकित है। तीसरी प्रतिमा पर कमल का अंकन है अतः यह नेमिनाथ की मूर्ति है। यह प्रतिमाएं अभिलेख विहीन है।[78]

शौरीपुर के भट्टारकों द्वारा बनवाया हुआ एक विशाल जैन मन्दिर और धर्मशाला है। इस मन्दिर में परिमाल चन्देल के प्रसिद्ध सेनानी आल्हा के पुत्र जल्हण द्वारा 1176 ई. में अजितनाथ की प्रतिमा प्रतिस्थापित की गई जो महोबा से लाई गई है, ऐसा बताया जाता है कि गाँव में यह मनियादेव के नाम से प्रसिद्ध है।[79]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. बाजपेयी, कृष्णदत्त; भारत के सांस्कृतिक केन्द्र मथुरा, पृ. 108; घोष, अमलानन्द : कला एवं स्थापत्य खं. 1, पृ. 51
2. 10, 75
3. विष्णु पुराण, 1/12/4
4. मेक्रिण्डिल; ऐश्येन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्द बाई टालेमी, पृ. 98
5. इण्डियन एण्टिक्वेरी, सं. 20, पृ. 375
6. लेग्गे, जेम्स; टि, ट्रेवेल्स ऑफ फाह्यान, पृ. 42

7. वाटर्स, थॉमस; ऑन युवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, भाग-1, पृ. 301
8. जैकोबी, हरमन; सेक्रेड बुक्स ऑफ दि इस्ट भाग-1, 5, पृ. 11
9. उत्तरकाण्ड, सर्ग 62, पंक्ति 17
10. हेमचन्द्राचार्य; अभिधानचिन्तामणि, पृ. 390
11. प्लिनी; नेचुरल हिस्ट्री, भाग 6, पृ. 19; कनिंघम, ए.; दि ऐश्येन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पृ. 315
12. कनिंघम, ए.; पू. नि. पृ. 315
13. सूरि, जिनप्रभ; संपा. जिनविजय; विविधतीर्थकल्प, पृ. 17; स्मिथ, वी.ए; जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑव मथुरा, पृ. 15; आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इम्पीरियल सीरिज, पृ. 13
14. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 18..1529
15. स्मिथ, पू. नि. पृ. 1; एफ.एस. ग्राउस, पू.नि. पृ. 117
16. विज्ञप्ति संख्या 706 एम.एस./110 एम.एस. 1927
17. स्मिथ, पू. नि. पृ. 1
18. आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग-3, पृ. 19
19. एफ.आर. आलुचिन; दि आर्कियोलॉजिकल ऑफ हिस्टॉरिक साउथ एशिया, दि इमरजेन्सी ऑफ साइट्स एण्ड स्टेट्स, पृ. 5
20. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, भाग-3, पृ. 13; भाग 17, पृ. 111; भाग-20, पृ. 3
21. ग्राउस एफ.एस; मथुरा-ए डिस्ट्रिक्ट मेमोआर, 1911
22. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-1, पृ. 292; मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स, पृ. 40
23. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-1, पृ. 371, 393, 397; स्मिथ बी.ए. पू. नि. प्राक्कथन, पृ. 3
24. श्री निवासन, डी.एम. मथुरा : दि कल्चरल हेरिटेज, पृ. 332

25. ल्यूडर्स लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स, क्रमांक 47
26. हण्डीकी, के.के.; यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ. 416
27. 5/1536
28. घोष, अमलानन्द; कला एवं स्थापत्य, ख-1, पृ. 55
29. स्मिथ, वी.ए., पू. नि., चित्र 3
30. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या क्यू. 2
31. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या 535, 683, 207
32. राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली, जे. 555
33. शाह, यू.पी.; स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 12
34. विविधतीर्थकल्प, पृ. 17
35. जैन, ज्योतिप्रसाद, उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. 120, 21
36. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या, जे. 24
37. मजूमदार, आर.सी.; दि क्लैसिकल एज, पृ. 523
38. राजकीय संग्रहालय मथुरा, संख्या 18.1505
39. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 77
40. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 47.3333
41. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 2000.42
42. जैन, बलभद्र; भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग-1, पृ. 243
43. मीत्तल, प्रभुदयाल; पू. नि. पृ. 92
44. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 16.1207
45. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या, जे. 813
46. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या, जे. 794
47. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या, जे. 793

48. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 18.1504
49. जैन, ज्योति प्रसाद; उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. 122
50. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या 12.276
51. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 44.3147
52. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या बी. 18
53. जोशी, ई.बी.; गजेटियर ऑव इण्डिया, पृ. 346
54. शुक्ल, चिन्तामणि; मथुरा जनपद का राजनैतिक इतिहास, पृ. 1
55. पूर्व निर्दिष्ट, पृ. 12
56. हर्बर्ट हर्टेल, एक्सवेशन्स ऐट सोंख (मथुरा डिस्ट्रिक्ट) 1966-1967, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका पृ. 3, मार्च 1968
57. हर्बर्ट हर्टेल, सम रिजल्ट्स ऑव द एक्सवेशन्स ऐट सोंख : ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट : जर्मन स्कॉलर्स ऑन इण्डिया, भाग-2, पृ. 88, चित्र सं. 27, श्रीवास्तव; ए. एल. भारतीय कला प्रतीक, पृ. 51
58. हर्बर्ट हर्टेल, डाई कुषाण होरिजोण्टे इन ह्यूगल वॉन सोंख (मथुरा); इण्डोलोजेण्टेगुंग 1971, बिज्बेडेन, 1973, पृ. 1 से 24; श्रीवास्तव, पू. नि. पृ. 50
59. पू. नि. पृ. 1 से 24; श्रीवास्तव; पू. नि. पृ. 51
60. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 48.3385
61. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 40.2874/2
62. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 4
63. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 46.3223
64. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 32.2126
65. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 19.1565
66. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 79

67. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 10.134

68. जिनस्य नेमिस्त्रिदिवावतारत : पुरवै षणमासपुरम्सरा सुरैः।

प्रवर्तिता तज्जननावधि गृहे हिरण्यवृष्टि : पुरूहूत शासनात 1137/2

69. सउरीपुरम्मि जादो सिवदेवीए समुद्दविजय।

बईसाह तेरसीए सिदाए णेमिजिणों। तिलोयपण्णति; 547

70. जैन, बलभद्र; उत्तर प्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग-1, पृ. 66

71. जैन, रामजीत, इतिहास के पन्नों में शौरीपुर-बटेश्वर; प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, अंक-13, पृ. 39-40

72. शिवप्रसाद; जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 115

73. हरिवंश पुराण, सर्ग 18

74. श्री नेमिदत्त; आराधना कथाकोष, कथा, 71; हरिषेण कथाकोष, 141

75. रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग-1, पृ. 314

76. जैन, बलभद्र; उत्तर प्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग-1, पृ. 75

77. कार्लाइल, ए.सी.एल; आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1871-72, भाग-IV

78. जैन, ज्योतिप्रसाद; उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. 45; जैन, बलभद्र; पू. नि. पृ. 71-73

79. जैन, ज्योति प्रसाद; पू. नि. पृ. 45

अध्याय चतुर्थ

शूरसेन जनपद में जैन मूर्तिकला

जैन प्रतिमाओं का आरम्भ शूरसेन के मथुरा कला शैली के शिल्पकारों द्वारा हुआ। स्थापत्यकला के समान ही मूर्तिकला के क्षेत्र में भी यहाँ के शिल्पकारों एवं जैन आश्रयदाताओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।[1]

जैन ग्रन्थों[2] तथा बौद्ध ग्रन्थों[3] में बहत्तर तथा ब्राह्मण ग्रन्थों[4] में चौंसठ प्रकार की कलाओं को उल्लिखित किया गया है।

भारतीय कला के क्षेत्र में जैन धर्म का अपूर्व योगदान है। प्राप्त कलाकृतियों से धर्म के विकास को शूरसेन जनपद में जैन कला के माध्यम से महत्वपूर्ण विकास का बोध होता है। कला को स्थायित्व प्रदान करने के लिए धर्म का आश्रय आवश्यक है। अतः कला एवं धर्म दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं।

उपासक एवं उपासिकाओं के लिए अपने उपदेशक के विषय में जानने की इच्छा होती है कि उस महान व्यक्ति की आकृति कैसी रही होगी। फलस्वरूप इस प्रकार की इच्छा को शान्त करने के लिए प्रारम्भ में प्रतीक स्वरूप चक्र, पद्म, चैत्य, वृक्ष, स्वास्तिक, भद्रासन, भिक्षा पात्रादि के माध्यम से उपदेशक की स्मृति को स्थिर रखने का प्रयास किया गया। कालान्तर में मूर्ति पूजा का अंकन प्रारम्भ हुआ।[5]

जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण प्रतिमाओं का कलात्मक विकास मथुरा कला शैली के अन्तर्गत स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं को सर्वप्रथम मथुरा कला शैली के अन्तर्गत ही निर्मित किया गया जिसका प्रारम्भ प्रथम शती ई. में हुआ। इसका

उदाहरणस्वरूप मथुरा स्थित कंकाली टीले से प्राप्त प्रतिमाओं एवं बिहार में बक्सर के निकट चौसा से प्राप्त की गई काँस्य प्रतिमाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है।[6]

कुषाण युग में मथुरा कला शैली के अन्तर्गत मथुरा मूर्ति निर्माण कला का एक बड़ा ही प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। मथुरा कला शैली की निर्मित प्रतिमाओं को श्रावस्ती, कौशाम्बी, साँची, सारनाथ, राजगृह, बोधगया आदि राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों में बहुत सम्मानपूर्वक मथुरा से मंगवाया जाता था।[7]

जैन ग्रन्थों में जिन भगवान की मुद्राओं का वर्णन है, जिसमें उन्होंने *निर्वाण प्राप्त किया था। इक्कीस तीर्थंकर ने कायोत्सर्ग मुद्रा* में ध्यान करते हुए तथा तीन जिनों ने ऋषभ, नेमिनाथ और महावीर स्वामी ने ध्यानमुद्रा में आसनस्थ निर्वाण प्राप्त किया।[8]

लांछन का अंकन मूर्ति के पादपीठ के मध्य में तथा यक्ष-यक्षी को दायें-बायें बनाना चाहिए।[9]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थकरों की माता द्वारा सोलह[10] स्वप्न देखे गए जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जैन भगवानों की माताओं ने चौदह[11] स्वप्न देखे थे। इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों में प्रतिमा भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है।[12]

जैन धर्म की कला का प्रारम्भिक विकास शूरसेन, अहिच्छत्रा और विदिशा के केन्द्रों में प्रमुख रूप से हुआ। इन प्रमुख स्थानों से जितनी भी जैन कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें तीर्थंकर प्रतिमाएं, देवियों की प्रतिमाएं तथा आयागपट्ट प्रमुख हैं। आयागपट्ट पूजार्थक होता था।[13]

शूरसेन जनपद मौर्य युग में मगध साम्राज्य के अधीन था। चन्द्रगुप्त मौर्य का दरबारी राजदूत मेगस्थनीज ने इस जनपद का वर्णन करते हुए यमुना एवं मथुरा नगरी की प्रशंसा की है। उसने यहाँ के निवासियों की धार्मिक परम्परा का भी उल्लेख किया है।

मौर्य युग में वर्णित क्षेत्र से कोई कलाकृति प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु धार्मिक सहिष्णुता अवश्य थी।

मौर्यवंश के पश्चात् शुंगवंश के शासकों का मगध की सत्ता पर आधिपत्य स्थापित हुआ।

शुंगकालीन तीर्थंकर प्रतिमा सर्वप्रथम वर्णित क्षेत्र की राजधानी मथुरा से प्राप्त शिलापट्ट पर अंकित है जो नृत्यपट्ट है। इसमें नीलांजना नामक अप्सरा नृत्य कर रही है।[14] यह नृत्य पट्ट ऋषभ के वैराग्य के लिए प्रसिद्ध है।

यह दो भागों में प्राप्त हुआ है। मण्डप के भीतर एक नर्तकी नृत्य कर रही है और पाँच पुरुष वाद्य बजा रहे हैं। इसमें चार स्तम्भ निर्मित हैं तथा इन खम्भों पर पूरा मण्डप टिका हुआ है तथा मण्डप के बाहर से लोग नृत्य का आनन्द उठा रहे हैं। वाद्य वादकों के मस्तक पर पगड़ी है। सबसे किनारे पर एक पुरुष अपना मुँह दाहिनी ओर किये बैठे हैं। लम्बे बालों वाला एक व्यक्ति नृत्य देखने में लीन है। प्रथम पट्ट पर इतना ही अंकित है।

दूसरे पट्ट पर जो इसका दूसरा भाग है उस पर एक दिगम्बर पुरुष के हाथ में कमण्डल है तथा वह बायीं ओर उन्मुख है। दो शिलाओं पर ध्यानस्थ मुनि अंकित है। ऊपर की ओर एक पुरुष को हाथ जोड़े हुए दिखाया गया है। शिला पर अंकित मुनि की लटें सिर के नीचे तक लटक रही है। आकृति की बनावट एवं जटाओं के अंकन के आधार पर यह ऋषभनाथ की प्रतिमा है तथा लक्षण के आधार पर शुंगकाल की है।[15]

लखनऊ संग्रहालय में ई. पू. प्रथम शती का एक अभिलिखित फलक लाल चित्तीदार पत्थर पर निर्मित है।[16] सींगयुक्त अजमुखी मानव शरीर वाले नैगमेष आसन पर दायीं ओर मुँह घुमाए ललितासन में बैठे हैं। आसन के पायें नक्काशीदार और पीठिकायुक्त है। एक नग्न बालक नैगमेष के पास तथा दो स्त्रियाँ भी आभूषण एवं वस्त्र से सुसज्जित

होकर खड़ी हैं। एक बालक को गोद में लिए दायां हाथ उठाए स्त्री आवक्ष और अन्त में भ्रदासन का अंश दृष्टिगोचर हो रहा है।

प्रोफेसर लूमान एवं स्मिथ ने कल्पसूत्र के[17] आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि दृश्यपट्ट में नैगमेष द्वारा महावीर के भ्रूण को ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से संक्रामित कर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया गया है। इसे ब्यूलर ने भी स्वीकार किया।[18]

परन्तु एक अन्य मत यह है कि सत्यभामा जो श्रीकृष्ण की पटरानी थी रुक्मिणी से ईर्ष्या करती थी। उन्होंने चाहा कि रुक्मिणी से पहले और सुन्दर पुत्र उनको प्राप्त हो। जैन हरिवंश पुराण एवं अन्य ग्रन्थों में भी यही प्रसंग उल्लिखित है। सत्यभामा पुत्र प्राप्त कर नैगमेष की अर्चना के लिए गई हो, यह दिखलाया जा सकता है। रुक्मिणी भी गई थीं।[19]

"अन्तगड्दसाओ" में पुत्र प्राप्ति के लिए हरनैगमेषी के पूजन और प्रसन्न होकर देवता द्वारा गले का हार देने का उल्लेख है।[20] इसी फलक के पीछे नृत्य के दृश्य का अंकन है जो पुत्रोत्सव के सन्दर्भ का द्योतक है।

जैन ग्रन्थ[21] में यह कथा वर्णित है कि इन्द्र ने जब नृत्यांगना नीलांजना की आयु पूर्ण होने पर उसके स्थान पर एक अन्य अप्सरा को नृत्य के लिए उपस्थित कर देते हैं तथा ऋषभदेव को उसकी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है और संसार की असारता देखकर उनका हृदय वैराग्य एवं विरक्ति से भर जाता है। इस प्रकार वैराग्य की अनुभूति होने के पश्चात् वे उठकर चलते हैं तथा पट्ट पर तप करते हुए भी अंकित हैं।

इस प्रकार का नीलांजना पट्ट आबू गुजरात से उपलब्ध है जो सियाटल कला संग्रहालय में सुरक्षित है।[22]

शुंगयुग में तीर्थकर प्रतिमाओं का अंकन आयागपट्ट के मध्य किया गया है। शुंग वंश की स्वतन्त्र जिन प्रतिमाओं का वर्णित क्षेत्र में अभाव है।

आयागपट्ट जिसे डॉ. ब्यूहलर ने[23] पूजाफलक के रूप में परिभाषित किया है। वर्णित क्षेत्र की जैन शिल्पाकृतियों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

स्तूप के आँगन में ऊँचे स्थान पर इन आयागपट्टों को स्थापित किया जाता था और धर्मानुयायी उनकी पूजा करते थे। इन पर सुन्दर अलंकरणों का कलात्मक संयोजन भी प्राप्त होता है।[24]

मथुरा से प्राप्त क्षतिग्रस्त आयागपट्ट मिला है[25]; जिसमें सर्व प्राचीन भगवान पार्श्वनाथ का अंकन किया गया है। यह अभिलिखित है लेकिन लेख का अधिकांश भाग भग्न है। लेख के शेष भाग से यह प्रकट होता है कि यह आयागपट्ट शिवघोषा ने निर्मित करवाया था।

इसका बायाँ भाग अत्यधिक खण्डित है। चारों कोनों पर दो हाथी, सांप, सिंह, हिरण, मधु क्षत्रप का अंकन किया गया है। वृत्त के भीतर उभरी हुई आसन चौकी पर पद्मासनस्थ तीर्थंकर अंकित है। इनके ऊपर सप्तफणों का छत्र और उस पर दो फूलों की मालाएँ दायें-बायें लटक रही हैं। प्रयाण मुद्रा में दोनों ओर एक-एक विवस्त्र गणधर अंकित हैं जो जिन प्रतिमा की ओर मुँह किये हुए खड़े हैं। इस आयागपट्ट में पार्श्वनाथ का अंकन विशेष महत्वपूर्ण है।

एक अभिलिखित आयागपट्ट मथुरा से शुंगकाल का प्राप्त हुआ है।[26] यह चित्तीदार पत्थर से निर्मित है। कमल की बड़ी-बड़ी पत्तियों से नीचे का भाग बनाया गया है तथा शेष भाग को छोटी पत्तियों से पूर्ण किया गया है। ऊपर त्रिरत्न, आगे किसी अलंकरण का अन्तिम छोर, ऊपर दर्पण, टूटे भाग पर फूल, भद्रासन अंकित है।

शुंगकालीन एक आयागपट्ट मथुरा से प्राप्त हुआ।[27] इस प्रकार ध्वज एवं सिंह ध्वज का अंकन दोनों ओर किया गया है। दायीं ओर से शंख, स्वास्तिक, उल्टा घंट, कमल की कलियों का गुच्छा फूल के साथ, कल्पवृक्ष और पत्रों पर रखा हुआ फूलों का दोना बना हुआ है।

अष्टमांगलिक प्रतीकों का अंकन सबसे नीचे की पट्टी पर किया गया है जिनका दायीं ओर से क्रम इस प्रकार है खण्डित श्रीवत्स,

स्वास्तिक, आधा खिला कमल, मत्स्ययुगम जिनके मुँह में हार है, पात्र, निधिसहित पात्र, भद्रासन तथा त्रिरत्न का अंकन किया गया है। एक वृत्त के मध्य में लघुपीठिका बनाई गई है उस पर जिन मूर्ति विराजमान है। प्रतिमा के ऊपर छत्र निर्मित है।

यह आयागपट्ट अभिलिखित है।[28] लेख के अनुसार अचला ने अर्हतपूजा के लिए यह पट्ट स्थापित करवाया था। लेख में विराम के रूप में श्रीवत्स का चिन्ह अंकित है।

ई. सन् प्रथम से पूर्व के एक आयागपट्ट पर अष्टमांगलिक प्रतिहार्यों का अंकन किया गया है।[29] चारों कोनों पर चार बड़ी-बड़ी पत्तियों का अंकन है। माला, त्रिरत्न, भद्रासन, दो कमान आधार पर श्रीवत्स एवं सरावसम्पुट का अंकन किया गया है। दोनों ओर एक-एक स्तम्भ का निम्रण किया गया है।

भीतर की ओर चार त्रिरत्नों के मध्य में वृत्त तथा उसके मध्य में ऊँची चौकी पर अर्हन्त की पद्मासनस्थ मूर्ति है, छत्र ऊपर की ओर उत्कीर्ण है। यह अभिलिखित है। लेख के अनुसार सिंहनन्दि नामक व्यक्ति ने अर्हन्त पूजा के लिए यह आयागपट्ट स्थापित करवाया था। लिपि के आधार पर यह ई. सन् प्रथम से पूर्व की है।[30]

कंकाली टीले से एक शुंगकालीन अभिलिखित आयागपट्ट प्राप्त हुआ है। यह खण्डित है। मध्य में पद्म व पद्मपत्रावलि से भ्रदासन का अंकन है। अष्ट प्रतिहार्यों में भद्रासन भी प्रमुख है।

एक मत्स्य को इसके भीतर निर्मित किया गया है। कमल की पंखुड़ियों व फूलों से भद्रासन की पट्टियों को अलंकृत किया गया है। नीचे का आधा भाग फूल एवं बेल से सुसज्जित है। सबसे नीचे लेख[31] अंकित है।

लेख के भावानुसार अर्हन्त बर्द्धमान की अर्चना के लिए आयागपट्ट स्थापित किया गया है।

आयागपट्ट का अलंकरण सुन्दर है, जो जैन शिल्पियों की कलाभिरुचि का प्रतीक है।

जैन मूर्तिकला की सर्वोत्तम प्रगति कुषाण युग में दृष्टिगोचर होती है। कुषाण युग में जैनों के पूजनीय स्तूप, चैत्यवृक्ष, धर्मचक्र, श्रीवत्स, स्वास्तिक मांगलिक चिन्ह, स्तम्भ, ध्वज, विकसित कमल, मत्स्य युग्म, पूर्णघट, त्रिरत्न, तीर्थंकर प्रतिमाएँ, देवी लक्ष्मी एवं सरस्वती की मूर्ति सराहनीय है। कुषाण युग की सर्वतोभिद्रका मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो समवसरण की प्राचीन परम्परा का विकसित रूप थी।[32]

कुषाणकालीन तीर्थंकर प्रतिमाएं दो रूपों में प्राप्त हुई हैं। आसनस्थ एवं कायोत्सर्ग मुद्रा शूरसेन जनपद के शिल्पकारों ने ऋषभ[33] एवं महावीर[34] की कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित किया था लेकिन उनकी पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ मूर्ति कुषाणकाल की प्राप्त हुई है।[35]

कुषाणकाल की एक ध्यानस्थ प्रतिमा आदिनाथ की प्राप्त हुई है।[36] प्रतिमा का मस्तक एवं बाहु खण्डित है तथापि खरौंचा हुआ किनारीदार प्रभावल अधिकांश सुरक्षित है। वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है तथा हाथों और पैरों के तलुवों पर चक्र चिन्ह उत्कीर्ण है। आसन पर एक स्तम्भ के ऊपर धर्मचक्र का अंकन है। दस स्त्री-पुरुष अर्चना कर रहे हैं, जिनमें से दो धर्मचक्र स्तम्भ के निकट घुटना टेके हैं और अन्य खड़े हैं।

यह अभिलिखित प्रतिमा है। लेख के अनुसार प्रतिमा की प्रतिष्ठा महाराज राजाधिराज देवपुत्र शाही वासुदेव के शासनकाल संवत् 84 अर्थात् 162 ई. में कुमारदत्त की प्रेरणा से भट्टदत्त उगभिनक की पुत्रवधू ने स्थापित कराई थी। यह वर्णित क्षेत्र के बलभद्र कुण्ड नामक स्थान से मिली।[37]

कंकाली टीले से एक अभिलिखित ध्यानस्थ प्रतिमा 161 ई. की उपलब्ध हुई है जिसका मस्तक एवं बायाँ हाथ लुप्त है। वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है। लेख के अनुसार जिनदासी ने इसे प्रतिष्ठित कराया था।[38]

कंकाली टीले से एक अभिलिखित प्रतिमा प्राप्त हुई है। चरण चौकी पर उपासकों एवं धर्मचक्र का अंकन किया गया है।[39] अभिलेख के अनुसार वर्धमान की यह प्रतिमा कोट्टिय गण के धरवृद्धि और सत्यसेन

के परामर्श पर दमित की पुत्री ओखारिका ने 162 ई. में स्थापित कराई थी।

मथुरा से प्राप्त एक मस्तक एवं भुजा रहित प्रतिमा प्राप्त हुई है।[40] चरण-चौकी के लेखानुसार दिन की वधु कुटुम्बिनी ने कोट्टियगण के पवहक कुल की मझम शाखा के सैनिक भट्टिबल की प्रेरणा से 168 ई. में प्रतिष्ठित कराया। यह वासुदेव का राज्यकाल था।

इसी प्रकार की चौसा से धातु की दो कायोत्सर्ग प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जो पटना संग्रहालय में है। इनके सिर पर तीन या पाँच लटें लटकती केश वल्लरिया सुशोभित हैं।[41]

भगवान ऋषभनाथ की एक कुषाणकालीन प्रतिमा विक्टोरिया अल्बर्ट संग्रहालय लन्दन में है।[42]

एक चरण चौकी पर ध्यानस्थ तीर्थंकर की टांगें भी प्राप्त हुई हैं। नीचे धर्मचक्र तथा उपासकों का अंकन किया गया है।[43] लेख के अनुसार यह हुविष्क कालीन है।

कुषाण युग में शूरसेन जनपद से प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ पाँचवें सुमतिनाथ, सातवें सुपार्श्वनाथ, बाइसवें नेमिनाथ एवं उनके साथ कृष्ण और बलराम तथा तेइसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की प्रतिमाएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। इन प्रतिमाओं को इनके लांछन के साथ पहचाना जा सकता है क्योंकि ये जिन मूर्तियों लाछनों के साथ उत्कीर्ण की गई है।

लाछंनों का उद्भव एवं विकास कुषाण काल में मथुरा कला शैली के अन्तर्गत प्रारम्भ हुआ।[44]

कंकाली टीले से एक अभिलिखित लाल चित्तीदार बलुए पत्थर की चरण-चौकी प्राप्त हुई है।[45] चौकी के दोनों ओर एक-एक सिंह का अंकन किया गया है। मध्य में एक चक्र अंकित है। इनमें अंकित अधिकांश आकृतियों के खण्डित मस्तक हैं। लेख से ज्ञात होता है कि यह भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमा है।[46]

भगवान ऋषभनाथ की एक ध्यानस्थ प्रतिमा कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।[47] यह मस्तक विहीन प्रतिमा है।

प्रतिमा के वक्ष स्थल पर श्रीवत्स लाछंन अंकित है। तलुए ऊपर की ओर हैं, जिनपर एक चक्र एवं एक त्रिरत्न चिन्ह अंकित है। एक अनुचर मूलनायक के दायें-बायें अंकित है।

प्रतिमा में तीन बालक तीन पुरुष दायीं ओर अंकित हैं तथा बीच में स्तम्भ के ऊपर चक्र बना है। बायीं ओर स्त्री उपासिकाओं को अंकित किया गया है। इसमें उत्कीर्ण लेख ब्राह्मी में है।

इसी प्रकार की एक अन्य भगवान ऋषभनाथ की ध्यानस्थ चरण-चौकी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।[48] इसकी लिपि ब्राह्मी है। दायीं हथेली पर चक्र एवं उंगलियों के पोर स्पष्ट हैं दायें तलुए पर चक्र एवं त्रिरत्न अंकित है। पादपीठिका पर चक्र के निकट गणधर, साधु व दो उपासकों का अंकन किया गया है।

तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ की अभिलिखित मूर्ति कुषाणकालीन *कंकाली से प्राप्त हुई है। यह सबसे प्राचीन प्रतिमा है।*[49] *लेख में* 'सम्भवनाथ' का नाम उत्कीर्ण है। प्रतिमा ध्यानस्थ है। पीठिका पर धर्म चक्र एवं त्रिरत्न का अंकन किया गया है। सम्भवनाथ का लांछन अश्व है।

जैन धर्म के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का लांछन कूर्म है। यह सद्व्रत का पालन करने वाले मुनि माने जाते थे। यह भाव इनके नाम का पद बन गया और मुनिसुव्रत इनकी संज्ञा हो गई।[50]

जैन परम्परानुसार राम एवं लक्ष्मण मुनि सुव्रत के समकालीन थे।[51] मुनिसुव्रत की सर्वप्राचीन अभिलिखित प्रतिमा 127 ई. की कंकाली टीले से मिली है, जिस पर कुषाण ब्राह्मी में लेख उत्कीर्ण है।[52]

त्रिरत्न अर्थात् सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक चरित्र का प्रतीक चिन्ह चरण-चौकी के मध्य में अंकित है। इसमें चक्र, शंख, नन्दीपद एवं चक्र का भी अंकन है।

तीन महिलाओं को साड़ी पहने हुए तथा एक हाथ से सम्भाले हुए और दूसरे हाथ में मोटी माला जिसके फूल ऊपर की ओर खिले हुए दिखाए गए हैं। छोटी आकार की सेविका हाथ जोड़े खड़ी है।

तीनों स्त्रियाँ लम्बी स्वस्थ एवं तीखे नाक, नक्श वाली हैं, इन पर गान्धार शैली का प्रभाव देखा जा सकता है क्योंकि अन्य जैन प्रतिमाओं की चौकियों पर उत्कीर्ण महिलाएँ, श्राविकाएं, साध्वियाँ इनके आकार की अपेक्षा छोटी हैं।

फलस्वरूप इन्हें विदेशी स्त्रियों की श्रेणी में अभिहित किया गया है। जैन धर्म के प्रति इनकी श्रद्धा को अंकित किया गया है, जो अर्हन्त पूजा में आईं। ऐसी आकृतियाँ, गान्धर प्रतिमाओं में ही दृष्टिगत होती हैं।[53]

जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ की एक ध्यानस्थ प्रतिमा कंकाली टीले से प्राप्त हुई है। यह प्रथम शती ई. की प्रतिमा है।[54]

प्रतिमा में चतुर्भुज बलराम की ऊपर भुजाओं में गदा और हल का अंकन किया गया है। चतुर्भुज कृष्ण को वनमाला से शोभित दर्शाया गया है। उनकी तीन अवशिष्ट भुजाओं में अभयमुद्रा, गदा और पात्र अंकित है।[55]

यह लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है। चरण-चौकी के मध्य भाग में स्तम्भ पर धर्मचक्र स्थित है। इसके दक्षिण ओर दो उपासक और वाम भाग पर दो उपासिकाएँ अंकित है। यह प्रतिमा ब्राह्मी में अभिलिखित है जिसमें अर्हन्त एवं सिद्ध को नमन किया गया है। प्रतिमा का अधिकांश भाग क्षतिग्रस्त है।

कुषाणकालीन दो अन्य नेमिनाथ की ध्यानस्थ प्रतिमाओं में केवल बलराम की ही मूर्ति उत्कीर्ण है।[56]

सात सर्पफणों के छत्र से युक्त द्विभुज बलराम नमस्कार मुद्रा में है।[57] चरण-चौकीको दो सिंह उठाये हुए हैं। इसके मध्य में स्तम्भ पर चक्र तथा दोनों ओर दो-दो उपासक एवं उपासिकाएँ अंकित हैं। चरण-चौकी पर लेख उत्कीर्ण था जो इस समय पर्याप्त घिसकर मिट चुका है। प्रतिमा का

दायाँ भाग खण्डित है। मूल प्रतिमा के बायीं ओर उड़ते हुए विद्याधर का अंकन किया गया है। वक्ष पर श्रीवत्स का लांछन अंकित है।

जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सर्वाधिक प्रतिमाएं कुषाणकालीन है। लांछन सर्प है।[58]

लाल चित्तीदार बलुए पत्थर पर निर्मित प्रतिमा कंकाली से प्राप्त हुई है। यह 136 ई. की है।

बाद में इस प्रतिमा का सर्पफण प्राप्त हुआ जो मस्तक के साथ है इसे अब इसी प्रतिमा में जोड़ दिया गया है।[59]

पाद-पीठिका के मध्य स्तम्भ पर धर्म-चक्र और दायें-बायें एक-एक गणधर एक हाथ से दूसरे हाथ को थामे हुए भूमि पर बैठे हैं।[60]

वक्ष पर श्रीवत्स, दायीं हथेली पर चक्र एवं दोनों तलुवों पर त्रिरत्न व चक्र का अंकन है। पार्श्वनाथ का मुख सातफणों के छत्र के नीचे रहा होगा किन्तु इस समय तीन सर्पफण ही उपलब्ध है। एक सर्पफण पर स्वास्तिक व दो आँखें, दूसरा खण्डित है तथा तीसरे में चक्र व दोनों नेत्र अंकित है।

प्रतिमा के पार्श्व में वृक्ष का सजीव अंकन है। वृक्ष की पत्तियों की नसें व गोल पुष्प गुच्छ अति स्वाभाविक बन पड़े हैं।

जैन परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी की प्राचीन प्रतिमा कुषाण काल की है। यह प्रतिमाएं मथुरा कला शैली की अनुपम देन है।

कनिष्क युग की एक अभिलिखित महावीर की प्रतिमा कंकाली टीले से प्राप्त हुई है लेख में 'वर्धमान' अंकित है।[61] चरण-चौकी को दायें-बायें एक-एक सिंह उठाए हुए हैं।

वर्धमान की कायोत्सर्ग प्रतिमा 98 ई. की है।[62] पाद पीठिका के मध्य भाग में स्तम्भ पर धर्म-चक्र का अंकन किया गया है। श्रावक-श्राविकाओं को माला के साथ अंकित किया गया है।

एक अन्य वर्धमान मूर्ति का अंश 107 ई.[63] की कंकाली से प्राप्त हुई है जो अभिलिखित है।[64] इस पर एक दम्पत्ति नमन मुद्रा में अंकित है।

द्वितीय शती ई. की वर्धमान प्रतिमा अभिलिखित प्राप्त हुई है।[65] वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा तलुवों पर चक्र व त्रिरत्न अंकित है। मध्य में चक्र एवं सिंह का अंकन दृष्टव्य है।

यह सभी प्रतिमाएं प्रतिमा शास्त्र के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण है।

सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की दृष्टि से कुषाण काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इनका निर्माण इसी समय प्रारम्भ हुआ। सर्वतोभद्रिका का तात्पर्य है कि वह प्रतिमा जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी हो, अर्थात् एक ही प्रस्तर खण्ड पर चारों ओर चार प्रतिमाएं अंकित हों।[66]

चौमुखी प्रतिमाओं मे सर्व प्राचीन प्रतिमा लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है[67] जो कंकाली टीले से मिली है। यह अभिलिखित है तथा 83 ई. में इसको स्थापित किया गया है।

एक चौमुखी लाल बलुए पत्थर पर निर्मित हैं[68] सर्पफणों के छत्र से पार्श्वनाथ की पहचान सम्भव हुई है।

चौसा से एक सात सर्पफणों से युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा उपलब्ध हुई है जो कुषाणकालीन है।[69]

अन्य तीन जिनों की पहचान नहीं हो सकी हैं चरण चौकी पर उपासक एवं उपासिकाओं का अंकन किया गया है। एवं मध्य स्तम्भ पर चक्र अंकित है।

एक चौमुखी प्रतिमा का अभिलिखित अधोभाग भूतेश्वर से प्राप्त हुआ है।[70]

अन्य सर्वतोभिद्रका प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय है जो लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है।[71]

राज्य संग्रहालय लखनऊ में भी जिन चौमुखी संरक्षित हैं। एक अभिलिखित चौमुखी कनिष्क काल की कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।[72] सर्पफण के आधार पर पार्श्वनाथ की पहचान की गई है। चारों जिनों के वक्ष पर श्रीवत्स अंकित है।

जिनों के बाल घुँघराले तथा तीन पर प्रभामण्डल निर्मित है। लेख में 'सर्वतोभद्रिका' उत्कीर्ण है।

एक जिन चौमुखी का खण्ड मात्र सन् 96 ई. की प्राप्त हुई है। यह अभिलिखत है। इसे मोहिनी के दान से स्थापित किया गया था।[73]

एक बहुत ही महत्वपूर्ण जिन चौमुखी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है जिस पर भगवान 'शान्तिनाथ' के नाम के साथ 'भगवतो' भी उत्कीर्ण है।[74] किसी भी प्रतिमा पर श्रीवत्स का अंकन नहीं है। यह कनिष्ककालीन प्रतिमा है।

एक चौमुखी अभिलिखित है जिस पर 'अरहन्त प्रतिमा सर्वतोभद्रिका'[75] उत्कीर्ण है। स्तम्भ पर धर्म चक्र का अंकन है। यह कुषाणकालीन कंकाली से मिली है।

एक अन्य सम्पूर्ण अभिलिखित जिन चौमुखी लाल चित्तीदार पत्थर पर उत्कीर्ण है। यह मथुरा से मिली है।[76] चारों जिन खड्गासन मुद्रा में हैं तथा केश घुँघराले हैं वक्ष पर श्रीवत्स का चिन्ह अंकित है। सातफणों के प्रदर्शन से पार्श्वनाथ की पहचान सम्भव है। चरण-चौकी पर लेख उत्कीर्ण है।[77]

अध्ययन क्षेत्र के कंकाली टीले से सरस्वती देवी की एक प्रतिमा अभिलिखित कनिष्क कालीन प्राप्त हुई है।[78] यह 54.61 सेंमी. ऊँची है।

प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में सरस्वती के अन्य नामों का उल्लेख मेधा एवं बुद्धि की देवी या श्रुत देवी के रूप में प्राप्त होता है।[79]

प्रतिमा का मस्तक क्षतिग्रस्त है। सम्पूर्ण शरीर धोती से ढका है जो बायें कंधे पर रखी है। दोनों हाथों में कंगन है तथा बायें हाथ में पुस्तक है। दाहिना हाथ भग्न है लेकिन इसमें माला के कुछ दाने दृष्टव्य हैं।

उपासक अर्चना के लिए बायीं ओर खड़े हैं। दायीं ओर एक पुरुष अपनी बायीं कलाई पर वस्त्र खण्ड लटकाए और दायें हाथ में कमण्डल लिए खड़ा है।

लेख के अनुसार इसके संस्थापक लोहिए गोप हैं, और धरती पर बने 'रंग-नर्तन' में सर्वहित सुख के लिए इस प्रतिमा को स्थापित किया गया था। फलस्वरूप जैन आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी की भुजा में पुस्तक के प्रदर्शन की परम्परा प्रारम्भ हुई।[80]

जैन परम्परानुसार नैगमेश और नैगमेशी देवता का मुख बकरे के समान होता है। यह बच्चों के रक्षक के रूप में प्रसिद्ध है। इसकी पत्नी रेवती या षष्ठी देवी भी शिशुओं की रक्षिका मानी जाती है। एक कुषाण कालीन नैगमेश की प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसे बच्चों के साथ प्रदर्शित किया गया है।[81]

कंकाली टीले से प्राप्त एक तोरण-खण्ड पर नैगमेश देवता की प्रतिमा निर्मित है और नीचे 'भगव नेमेसो' उत्कीर्ण है।[82]

कुषाण कालीन एक अजमुखी प्रतिमा एक फुट साढ़े तीन इंच ऊँची है। बायें हाथ से दो शिशुओं को पकड़े हुए हैं, जो उसकी जंघा पर लटक रहे हैं।

एक अन्य प्रतिमा एक फुट पाँच इंच ऊँची है और प्रत्येक कन्धे पर दो-दो बालक बैठे हुए प्रदर्शित हैं तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है।[83]

एक प्रतिमा अजमुखी देवी की एक फुट चार इंच ऊँची है।[84] एक तकिया उसके बायें हाथ में है, जिस पर एक बालक अपने दोनों हाथ वक्षस्थल पर रखे हुए सो रहा है। देवी का दाहिना हाथ खण्डित है।

एक अन्य देवी प्रतिमा के गले में हार लटक रहा है।[85] यह अजमुखी मानवाकृतियाँ प्रथम द्वितीय शती ई. तक लोकप्रिय रही। इनके साथ कुछ शिशुओं का अंकन भी किया जाता है।[86]

गुप्तकाल में भी जैन मूर्तिकला का विकास दृष्टिगोचर होता है। कुषाण काल की अपेक्षा गुप्तकालीन, जैन कलाकृतियों की संख्या कम है, परन्तु इनका क्षेत्र विस्तृत है। ये प्रतिमाएं राजगिर, विदिशा, उदयगीर, अकोटा, कहौम और वाराणसी से भी मिली हैं।

गुप्तकालीन ग्रन्थों[87] के अनुसार जिन मूर्तियाँ श्रीवत्स चिन्ह से युक्त, निर्वस्त्र, आजानुलम्बबाहु और तरुण रूप होनी चाहिए। जिन-मूर्तियाँ पूरी तरह से अलंकरण-विहिन होनी चाहिए।

गुप्तकाल में अष्ट-प्रतिहार्यों का नियमित अंकन प्रारम्भ हो गया। ये अष्ट-प्रतिहार्य थे- अशोक वृक्ष, चवँर, देव पुष्पवृष्टि, मालाधर गन्धर्व, दिव्य ध्वनि, सिंहासन, त्रिछत्र, देव दुन्दुभि एवं प्रभामण्डल। गुप्तकाल में ही मुख्य जिन-आकृति के सिंहासन या परिकर में छोटी-छोटी जिन मूर्तियों के अंकन की परम्परा प्रारम्भ हुइ।[88]

अध्ययन क्षेत्र से पार्श्वनाथ की अपेक्षा ऋषभदेव की अधिक प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। ऋषभदेव की प्रमुख प्रतिमाओं को उनके विशिष्ट लक्षण से पहचान सकते हैं। कन्धों तक फैली हुई जटाओं से यह पहचान सम्भव है।[89]

गुप्तकालीन एक अभिलिखित प्रतिमा वर्णित क्षेत्र से प्राप्त हुई है।[90] इस पर तीर्थंकर 'ऋषभ' का नाम भी अंकित है। लेख के अनुसार इसे समुद्र और सागर नामक दो उपासकों ने प्रतिष्ठित कराया था।

तीर्थंकर शान्तिनाथ की एक प्रतिमा वर्णित क्षेत्र से प्राप्त हुई है।[91] उसके सिंहासन पर हरिणों का अंकन किया है।

गुप्तकालीन तीर्थंकर का विशाल मस्तक मिला है जिससे मूर्ति की विशालता का बोध होता है।[92]

नेमिनाथ की एक खण्डित प्रतिमा वर्णित क्षेत्र से प्राप्त हुई है।[93] दायें बलराम एवं बायें कृष्ण की चतुर्भुज मूर्तियाँ शोभायमान हैं।

बलराम की एक भुजा से हल तथा दूसरी जानु पर स्थित है। कृष्ण की एक भुजा में गदा और चक्र का अंकन किया गया है।

जिन प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में प्राप्त हुई है। पाद-पाठिका पर दायें-बायें एक सिंह भीतर की ओर पीठ किए बैठे हैं।[94]

एक अन्य पार्श्वनाथ की प्रतिमा लाल चित्तीदार बलुए पत्थर पर ध्यानस्थ है।[95] वक्ष पर श्रीवत्स, कान लम्बे, उभरी हुई बादाम जैसी

आँखें, मुंडित सिर, गले की दो रेखाएं एवं दोनों कोहनियां बाहर को निकली हुई अंकित है।

जिन भगवान के पीछे सर्प की कुण्डलिनी दोनों ओर बनाई गई है। अर्हन्त पर सात फणों का अंकन है जिसमें चार फण ही शेष है; अन्य खण्डित हो गए हैं। सर्पफणों के ऊपर पुष्प गुच्छ, स्वास्तिक, मत्स्ययुग्म एवं पूर्णघट का स्पष्ट अंकन किया गया है। यह कंकाली टीला से प्राप्त तीसरी शती ई. की प्रतिमा है।

महावीर स्वामी की गुप्तकालीन प्रतिमाएं दुर्लभ है। लाल चित्तीदार बलुए पत्थर की कायोत्सर्ग प्रतिमा की दो चरण-चौकी महावीर स्वामी की शेष है।[96]

पादपीठिका के ऊपर दो घुमावदार डाटों के ऊपरी भागों पर माहवीर के दोनों चरणों के पंजे मात्र है। मूलनायक के बायें एक उपासक का निचला भाग व दायीं ओर दो उपासकों के अधोभाग ही शेष है। ये सभी अधोवस्त्र एवं उत्तरीय धारण किये हुए हैं। यह अभिलिखित है और गुप्तकालीन है।[97]

पाँचवीं शती ई. का एक जिन मस्तक वर्णित क्षेत्र से प्राप्त हुआ है।[98] केश घुँघराले, भौहें धनुषाकार, आँखें, पूर्ण कमलवत, नाक खण्डित तथा कान लम्बे हैं।

एक अन्य गुप्तकालीन मस्तक पर उष्णीष है।[99] आँखें बड़ी एवं नुकीली हैं। यह लाल चित्तीदार पत्थर पर अंकित है।

एक अन्य मस्तक कंकाली टीले से मिला है। माथे पर तिलक, कान लम्बे, भौहें तथा होठ स्फुटित दिखाए गए हैं।[100]

गुप्तकालीन एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा अध्ययन क्षेत्र से प्राप्त हुई है।[101] चारों ओर चार जिनों का अंकन किया गया है। प्रथम जिन आदिनाथ, सातवें जिन सुपार्श्वनाथ, तेईसवें जिन पार्श्वनाथ तथा अन्तिम जिन महावीर स्वामी की प्रतिमाएं हैं।

गुप्तकालीन ऋषभनाथ की एक प्रतिमा कंकाली टीले से प्राप्त हुई है।[102] प्रतिमा का मस्तक खण्डित है। प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में। दाहिनी ओर एक उपासक खड़ा है। नीचे चरण चौकी पर दोनों ओर सिंह का अंकन एवं मध्य में चक्र स्थित है। चक्र के दोनों ओर एक-एक मुनि ध्यानस्थ हैं।

मध्य प्रदेश के सीरा पहाड़ी से ऋषभनाथ की एक खड्गासन प्रतिमा उपलब्ध हुई है।[103] विदिशा से तीन गुप्तकालीन प्रतिमाएं प्राप्त हुई है, जो सम्प्रति विदिशा संग्रहालय में है। इनके लेखों में महाराजाधिराज रामगुप्त का उल्लेख है।[104]

गुप्तकालीन एक ध्यानस्थ महावीर की प्रतिमा भारत कला भवन, वाराणसी में संग्रहीत है। इसमें लांछन सिंह का अंकन है।[105]

राजगीर से गुप्तकालीन चार जिन मूर्तियाँ मिली हैं जो अभिलिखित है। ध्यानस्थ सिंहासन पर विराजमान जिन की पीठिका के मध्य में चक्र, पुरुष और उसके दोनों ओर शंख उत्कीर्ण है। शंख नेमिनाथ का लांछन है।[106]

गुप्तकालीन दो प्रतिमाएं विक्टोरिया अल्बर्ट संग्रहालय लन्दन में है।[107]

वर्णित क्षेत्र से आठवीं शती ई. की जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमा लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है, प्राप्त हुई है।[108]

भगवान ऋषभनाथ का मुख खण्डित है। प्रतिमा पद्मासनस्थ है। मस्तक के पीछे अलंकृत प्रभामण्डल अंकित है। सबसे ऊपर तीन मुनि ध्यानमुद्रा में आसीन हैं। तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर स्तूप आकृति का घटाटोप है। दोनों ओर उड़ते हुए विद्याधर तथा जिन के दायें-बायें एक-एक स्त्री आकृति का अंकन किया गया है। चरण-चौकी के नीचे मध्य में चक्र अंकित है।

कंकाली टीले से 981 ई. की जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अभिलिखित प्रतिमा प्राप्त हुई है।[109] भगवान पार्श्वनाथ ध्यानमुद्रा में पद्मासनस्थ है। आँखें अर्द्ध-उन्मीलित हैं।

वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है तथा दाहिना कान एवं नाक भग्न है। केश घुँघराले हैं तथा चरण-चौकी पर बेल की आकृति में फूल बने हैं। यह लाल बलुए पत्थर पर निर्मित मथुरा कला शैली की विशेष कृति है। वर्तमान में यह राज्य संग्रहालय लखनऊ के मुख्य द्वार पर अवस्थित है।

सतना जिले से आठवीं शती का पद्मासन मुद्रा में पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त हुई। तीर्थंकर मूर्ति का सुगठित रूपांकन, मुख मण्डप पर ध्यानस्थ शांत तथा आध्यात्मिक दीप्ति का विकिरण और देव अनुचरों की कोमल कमनीय मुद्रा का अंकन उल्लेखनीय है।[110]

मध्य प्रदेश के गुर्गी से नवीं शती की पार्श्वनाथ प्रतिमा इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित है। परन्तु इसमें सर्प की कुण्डलियाँ चरणों तक बनी है।[111]

गुप्तोत्तर काल की प्रतिमाओं का अभाव परिलक्षित होता है। नवीं शती ई. की नेमिनाथ की प्रतिमा के परिकर में गणेश, कुबेर, बलराम, कृष्ण एवं अष्टमातृकाओं का अंकन किया गया है।[112]

अम्बिका नामक यक्षी पद्मासन मुद्रा में आसीन है। अम्बिका का वाहन आसन के नीचे अंकित है। इनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बायें हाथ में पुत्र है।

दाहिने पार्श्व में अम्बिका का दूसरा पुत्र भी उपस्थित है। पीठिका पर एक पंक्ति में आठ स्त्री आकृतियाँ नमन मुद्रा में उत्कीर्ण हैं और कुछ आकृतियों के हाथों में फूल एवं अन्य सामग्री हैं।

अम्बिका के शीर्ष भाग की जिन आकृति के पार्श्वों में त्रिभंग मुद्रा में खड़ी बलराम एवं कृष्ण की चतुर्भुज प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं। अम्बिका नेमिनाथ की यक्षी है।[113] देवी के दाहिनी पार्श्व में ललित मुद्रा में गजमुख गणेश जी का अंकन द्विभुज के रूप में किया गया है जिनके हाथों में अभय मुद्रा एवं मोदक पात्र है। वाम पार्श्व में फल एवं धन के थैले के साथ कुबेर का अंकन दृष्टव्य है।

दसवीं शती की एक ऋषभनाथ[114] की ध्यान मुद्रा में प्रतिमा वर्णित क्षेत्र से प्राप्त हुई है।[115] यह प्रतिमा लांछन एवं यक्ष-यक्षीरहित है। परन्तु अगल-बगल कृष्ण एवं बलराम को उत्कीर्ण किया गया है।

नेमिनाथ की एक अन्य प्रतिमा जो दसवीं शती की है। इसमें भगवान के कन्धों पर जटाएं उत्कीर्ण हैं।[116]

दसवीं शती की एक पीले बलुए पत्थर से निर्मित जिन चौमुखी बटेश्वर से प्राप्त हुई है।[117] पार्श्वनाथ के मस्तक पर सात सर्पफणों को दर्शाया गया है जिसके सभी फण क्षतिग्रस्त है। मस्तक पर घुँघराले बाल हैं। कान व हाथ लम्बे हैं। तीर्थकर की प्रतिमाओं का ऊपरी भाग गोल खम्भे का भाग है, जो खण्डित है।

कंकाली टीले से प्राप्त एक जिन चौबीसी दसवीं शती की प्राप्त हुई है; जो ब्राह्मी लिपि में अभिलिखित है तथा लाल चित्तीदार बलुए पत्थर पर अंकित है।[118] मूलनायक ऋषभ पद्मासनस्थ हैं। वे दो सिंहों द्वारा वाहित सिंहासन पर विराजमान है।

मूलनायक ऋषभदेव पद्मासनस्थ हैं। सिंहासन के मध्य में चक्र है। अलंकृत प्रभामण्डल हैं मूल प्रतिमा के दायें-बायें नीचे से ऊपर आठ-आठ जिन कमल दल पर आसीन है। ऊपर के पट पर सात जिन हैं, सबको मिलाकर चौबीस जिन हैं।

कंकाली टीले से ग्यारहवीं शती ई. की अभिलिखित सर्वोतोभद्रिका प्रतिमा प्राप्त हुई है।[119]

जिनों के वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है। यह चौमुखी पद्मासनस्थ है। चरण चौकी के मध्य में चक्र अंकित है तथा दोनों ओर सिंह का अंकन है। एक ओर प्रतिमा खण्डित है।

बटेश्वर से बारहवीं शती की गुलाबी रंग की नेमिनाथ की पचतीर्थी प्राप्त हुई है।[120] देवगढ़ से दसवीं और बारहवीं शती के मध्य की तीस से अधिक नेमिनाथ की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों पर शंख का

अंकन नहीं है। नेमिनाथ के साथ बलराम एवं कृष्ण का उत्कीर्णन मथुरा के बाहर का एकमात्र उदाहरण है।[121]

ग्यारहवीं शती ई. की एक नेमि प्रतिमा पटना संग्रहालय में उपलब्ध है।[122]

जैन धर्म में प्रतीक पूजा

जैन धर्मानुयायियों ने तीर्थंकर की मानवांकन के पूर्व प्रतीक स्वरूप की पूजा-अर्चना प्रारम्भ कर दी थी। प्राचीन पुरातात्विक अवशेष शूरसेन जनपद के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। प्रतिमा निर्माण के पूर्व वर्णित क्षेत्र में जिन भगवान की पूजा प्रस्तर के चौकोर शिलापट्टों पर की जाती थी, जिन्हें आयागपट्ट कहा गया है।[123]

'आयाग' या 'आर्यक' शब्द का अर्थ 'पूजनीय' है। इसीलिए डॉ. ब्यूहलर ने इन्हें 'टैबेलेट्स ऑव होमेज ऑर वर्शिप' कहा है।[124]

रामायण में भी वर्णित 'आयाग' शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'याजनीय देवता' अर्थात् पूजनीय देवता किया है।[125]

जिस प्रकार नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त बौद्ध आर्यक खम्भ[126] *मात्र पूजा के लिए थे, उनका वास्तुगत उपयोग नहीं था, उसी प्रकार अध्ययन क्षेत्र के जैन आयागपट्ट भी स्वतन्त्र प्रस्तर-फलक थे। इनका उपयोग* केवल अर्हन्त पूजा के लिए किया जाता था।

वास्तुकला से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस तथ्य की पुष्टि लवण शोभिका की पुत्री वसु द्वारा स्थापित एक आयागपट्ट के अभिलेख से हो जाती है[127], जिसमें कहा गया है कि यह आयागपट्ट अर्हत की पूजा के लिए था।[128]

जैन धर्म में प्रतीक पूजा के रूप में चक्र का विशेष स्थान है। प्रथम शती ई. पू. का एक चक्र अध्ययन क्षेत्र से प्राप्त हुआ है।[129] जिनमें दायीं *ओर तीन मानवाकृतियां अंकित है। इनमें अंकित प्रतिमाओं के वस्त्र* घिस गए हैं। इसी प्रकार का धर्म-चक्र स्तम्भ धातु पर अंकित पटना संग्रहालय में दृष्टव्य है।[130]

धर्म-चक्र का वर्णन जैन ग्रन्थ में मिलता है।[131] कंकाली टीले से सिंह स्तम्भ शीर्ष शुंग काल का प्राप्त हुआ है जो महावीर स्वामी की प्रतीक पूजा का अंकन है।[132]

एक द्वार शाखा पर सामने की ओर दो-दो फलक है तथा दूसरी ओर रानियों के मध्य में राजा व एक युगल का अंकन किया गया है। वेदिका स्तम्भ एवं दो खम्भों का अंकन है।

कुषाणकालीन एक त्रिरत्न वर्णित क्षेत्र से प्राप्त हुआ है जो लाल बलुए पत्थर पर निर्मित हैं खिले कमल के समान चक्र बनाया गया है।[133]

जैन धर्म में त्रिरत्न को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार भागवत धर्म में तीन अमृतपद (दम, त्याग एवं अप्रमाद) का अभिलिखित साक्ष्य बेसनगर, विदिशा से गरूण ध्वज स्तम्भ पर प्राप्त होता है।[134]

अध्ययन क्षेत्र के सोंख नामक स्थान से एक मृत्तिका पंचागुल प्राप्त हुआ है।[135] इससे यह प्रकट होता है कि चन्दन या पीठी से पंचागुल का प्रतीक न केवल चित्रित किये जाते थे अपितु मांगलिक अवसरों पर उनके मूर्त स्वरूप का भी उपयोग किया जाता था।

जैन, ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्मों में मंगल कलश का अंकन प्राप्त होता है। मंगल कलश को स्तम्भ का आधार मन्दिर के शिखर तथा प्रतिमाओं में त्रिछत्र के ऊपर अंकित किया जाता है। साँची, मथुरा, अनुराधापुर, भरहुत, बोरोबुदूर आदि स्थानों पर पत्तियों, कलियों, कमल पुष्पों सहित पूर्ण कलश का अंकन किया है।[136]

एक पूर्ण कलश पत्थर के द्वार के मध्य में स्थापित है। यह लाल चित्तीदार पत्थर पर दो भागों में है, लेकिन नीचे का भाग आधा ही सुरक्षित है। कलश के मुख पर कमल की कलियाँ निकली हैं।[137]

जैन धर्म में स्वास्तिक एक लोकप्रिय मांगलिक चिन्ह है।[138] यह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का लांछन है।[139] जैन धर्मानुयायी स्वास्तिक को 'सिद्धम' के समकक्ष पूज्य मानते हैं।

स्वास्तिक का महत्व वैदिक, जैन एवं बौद्ध तीनों प्रमुख धर्मों में है। स्वास्तिक का अंकन तीर्थंकर एवं भगवान बुद्ध की प्रतिमाओं के तलुए एवं हथेलियों पर किया गया है। पवित्रता के रूप में स्वास्तिक का महत्व व्यापक है।[140]

वर्णित क्षेत्र से प्राप्त जैन आयागपट्ट पर स्वास्तिक सहित अन्य मंगल प्रतीकों का सर्वोत्कृष्ट अंकन है। एक आयागपट्ट के केन्द्र में एक छोटा वृत्त है, जिसमें जैन तीर्थंकर प्रतिमा अंकित हैं।[141] स्वास्तिको के त्रिदल का छोर अमरावती तथा नागार्जुनकोण्डा की कलाओं में दृष्टव्य है।[142]

आयागपट्टों के अतिरिक्त मथुरा से प्राप्त द्वितीय शताब्दी के लाल बलुए पत्थर के एक छत्र पर भी अष्टमंगल उत्कीर्ण किए गये हैं, जो इस प्रकार हैं- नन्दिपद, मत्स्ययुग्म, स्वास्तिक, पुष्पदान, पूर्णघट, रत्न पात्र, श्रीवत्स एवं शंखनिधि।[143]

जैन धर्म में प्रतीक के रूप में श्रीवत्स चिन्ह का विशेष महत्व है। वर्णित क्षेत्र के प्राचीन जैन स्तूप के वेदिका स्तम्भों, आयागपट्टों तथा तीर्थकर भगवान की प्रतिमाओं पर अंकन प्राप्त होता है।[144]

जर्मन पुरातत्वविद् डॉ. हर्टेल को वर्णित क्षेत्र के सोंख नामक स्थान से पकी मिट्टी का एक पंचागुंल प्राप्त हुआ है जिस पर बायें से क्रमशः श्रीवत्स, नन्दिपद तथा स्वास्तिक प्रतीकों को उत्कीर्ण किया गया है।[145]

बौद्ध धर्म में भी श्रीवत्स को महापुरुषों का प्रमुख लक्षण माना गया है।[146]

इसी प्रकार खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में भी इसका विशिष्ट प्रयोग किया गया है। अभिलेख के प्रारम्भ में बायीं ओर प्रथम से लेकर पांचवीं पंक्तियों के सीध में ऊपर श्रीवत्स और उसके नीचे स्वास्तिक का एक-एक चिन्ह उत्कीर्ण हैं।[147]

कंकाली टीले के एक आयागपट्ट पर त्रिरत्न, कलश, चक्र, पुष्पमाल, पवित्र पुस्तक, नद्यावर्त, श्रीवत्स, मत्स्य-गुग्म और भद्रासन का अंकन किया गया है।[148]

इस प्रकार मूर्तिकाल के क्षेत्र में शूरसेन जनपद में महत्वपूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. उपाध्ये, ए.एन.; जैन कला की आचारिक पृष्ठभूमि, जैनकला एवं स्थापत्य खण्ड-1, पृ. 43
2. समवायांग सूत्र, पृ. 77, औपपातिक सूत्र, 4, पृ. 186
3. दिव्यावदान, पृ. 58, 100, 391; ललित विस्तर, पृ. 156
4. रामायण, 1/9/5 महाभाष्य, 1/1/57; भागवत पुराण, 10/45/36
5. कुमारस्वामी, ए.के.; एलीमेन्ट्स ऑव बुद्धिस्ट आइकनोग्राफी, पृ. 5
6. मित्रा, देबला; मथुरा व पूर्व भारत; जैनकला एवं स्थापत्य; भाग-1, अंक 6, 7, पृ. 51, 71, 74
7. मीत्तल, प्रभुदयाल; ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 67
8. तिलोयपण्णति, 4, 1210, वारांगचरित; 2, 7, 9, 270
9. आशाधर; प्रतिष्ठासारोद्धार, 1.77
10. जिनसेन; आदिपुराण, सर्ग 12, श्लोक, 101, 19; हरिवंश पुराण, सर्ग 8, श्लोक 58.74
11. कल्पसूत्र, पृ. 10
12. त्रिवेणीप्रसाद; जैन प्रतिमा विधान, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-4, किरण 1, पृ. 22
13. ओझा, गौरीशंकर; जैन मूर्तिकल का शिल्प वैभव, नवभारत टाइम्स, पृ. 6
14. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 354; डी. एम. श्रीनिवासन, मथुरा-दि कल्चरल हेरिटेज, पृ. 335
15. शाह, यू.पी.; स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 11; रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार; प्राचीनतम जैन कलारत्न, भगवान महावीर जयन्ति स्मारक भाग 2, पृ. 21, 23

16. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 626
17. कल्पसूत्र 20.28
18. स्मिथ, बी.ए.; जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वीटीज ऑफ मथुरा, चित्र 18, पृ. 25
19. जोशी, नीलकण्ठ पुरूषोत्तम, तथा रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार; कंकाली की पुरासम्पदा जैन निबन्धमाला, पृ. 88
20. अन्तगड्दसाओं, पृ. 66.67
21. तिलोयपण्णति, 4.606; 'उसहे नीलजसाए मरणाओ', जिनसेन, आदि पुराण, पर्व 17, श्लोक 26, 40
22. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ; विदेशी संग्रहालय में महत्वपूर्ण प्रतिमाएं, पं. कैलाश चन्द्र, अभिनन्नदन ग्रन्थ, भाग 4, पृ. 353
23. स्मिथ, बी.ए.; दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वीटीज ऐट मथुरा, पृ. 64
24. अग्रवाल, वासुदेव शरण; मथुराकला, पृ. 82, 83
25. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 253
26. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 260
27. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 252
28. (अ) नमा अरहतानम् ..... भदयशस बधूये भद्रनदिस भयाये।
    (ब) अच (ल) ये (अय) गपटो ..... प्रति थापितो अरहत पूजाये।।
29. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 249
30. शाह, यू. पी.; पू. नि. पृ. 80: एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-X, पृ. 207, सं. 30
31. (न) मो अरहतो वधमानस्य गोतिपुत्रस पोथयश कालवास – कोशिकिये शिभिप्राये आयागपट्टो प – ।।
32. इण्डियन एण्टिक्वेरी, पृ. 125, 30
33. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 36, उपाध्ये, ए.एन.; पू.नि., पृ. 43

34. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 2, जे. 9; उपाध्ये, ए. एन. पू.नि. पृ. 43

35. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या सं. बी. 4

36. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 4

37. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 344

38. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 2

39. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 14.490

40. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 5

41. शाह, यू. पी.; पू. नि.: पृ. 13; प्रसाद, एच.के.; जैन ब्रोन्जेज इन दि पटना म्यूजियम, पृ. 275-80

42. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ; विदेशी संग्रहालयों में महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ; पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, भाग 4, पृ. 534

43. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 29

44. जैन, ज्योतिप्रसाद; उत्तर प्रदेश और जैन धर्म, पृ. 124

45. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 26

46. 'प्रीयताभ भगवान ऋषभ जी'

47. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 56

48. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 69

49. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 19

50. भट्टाचार्य, हेमचन्द्र; जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 56

51. जैन, हस्तीमल; जैन धर्म का मौलिक इतिहास, खं. 1, पृ. 134.35

52. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 20; शाह, यू.पी.; बिगिनिंग्स ऑव आइकनोग्राफी, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक 9, पृ. 5

53. रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार; पू. नि. पृ. 59; यह चरण चौकी जैन आर्ट ऑव इण्डिया प्रदर्शनी में लास एन्जिल क्लीवलैण्ड लन्दन में प्रदर्शित हो चुकी है।

54. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 47

55. श्रीवास्तव, वी.एन.; समइन्टरेस्टिंग जैन स्कल्पचर्स इन दि स्टेट म्यूजियम; लखनऊ संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक 9, पृ. 50

56. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 117, जे 60; थपल्याल, के.के.; कृष्ण लीजेण्ड ऐज डिपिक्टेड इन जैन पेंटिग्स इन लखनऊ म्यूजियम, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, पृ. 119-125, अंक 21.24, लखनऊ, जून 78, दिस. 1979।

57. श्रीवास्तव, वी.एन.; पू. नि. पृ. 50-51

58. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 39, जे. 113; राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या सं. बी. 63; भट्टाचार्य, बी.सी. पू. नि., पृ. 58

59. जोशी, नीलकण्ठ पुरूषोत्तम तथा रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार; कंकाली की पुरा सम्पदा; जैन निबन्धमाला, पृ. 86

60. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 67

61. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 5

62. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 9

63. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 14

64. 'वर्धमानस प्रतिमा प्रतिस्थापित'।

65. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 53

66. भट्टाचार्य, बी.सी.; पू.नि., पृ. 48; एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 1, पृ. 383, लेख-2

67. राज्य संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 71

68. राज्य संग्रहालय मथुरा संख्या जे. 67

69. प्रसाद, एच.के.; पू. नि.; पृ. 280-82

70. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 12.276

71. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 68, 72, 45.3209

72. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 230

73. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 231; स्मिथ, वी. ए.; पू. नि., पृ. 19, 21

74. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 232; एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-1, पृ. 382, सं. 3

75. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 233; एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-2, पृ. 203, सं. 16

76. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 235

77. 'यह मूर्ति सभी प्राणियों के हित-सूख के लिए दान की गई।'

78. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 24

79. भगवती सूत्र 11.11.430; पउमचरिय; 3.59

80. जैन, ज्योति प्रसाद; जेनेसिस ऑफ जैन लिटरेचर एण्ड द सरस्वती मूवमेन्ट; संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, लखनऊ, अंक 9, पृ. 30-31

81. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 34.2547; स्मिथ, वी.ए.; पू. नि. पृ. 24, फलक 17, चि. 2

82. जैन, हीरालाल; भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान; पृ. 359

83. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 2547

84. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या ई. 2

85. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या ई. 3

86. अग्रवाल, वासुदेव शरण; ए नोट ऑफ दि गाड नैगमेष; दि जर्नल ऑव दि यूनाइटेड प्रॉविशियल सोसाइटी, पृ. 68, 73, जिल्द 20, खं. 1, 2, लखनऊ 1947

87. बृहत्संहिता, 58; मानसर, 50, 40-46
88. उ.भा.जै.प्र., पृ. 170-72
89. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 6, बी. 33
90. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 12.268
91. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 75
92. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 61
93. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 2502
94. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 121
95. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 39
96. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 2
97. शर्मा, आर.सी.; जैन स्कल्पचर्स ऑफ दि गुप्त एज इन दि स्टेट म्यूजियम लखनऊ; श्री महावीर जैन विद्यालय स्वर्ण जयन्ती, अंक 1, पृ. 146
98. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 164
99. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 229
100. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 198
101. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 68
102. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 24
103. बाजपेयी, मधुलिका; मध्य प्रदेश में जैनधर्म का विकास, पृ. 141
104. अग्रवाल, आर. सी.; न्यूली डिस्कवर्ड स्कल्पचर्स फ्राम विदिशा, जर्नल ऑव ओरियण्टल ऑव बड़ौदा भाग 18, अंक 3, पृ. 252-53
105. शाह, यू. पी.; ए फ्यू जैन इमेजेज इन दि भारत कला भवन, वाराणसी, पृ. 234
106. चन्दा, आर.पी.; जैन रिमेन्स ऐट राजगिर; आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1925-26, पृ. 125-126, फलक 56, चित्र-6

107. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ, पू. नि. पृ. 253

108. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 18.1504

109. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 143

110. कृष्णदेव; जैन कला एवं स्थापत्य, भाग 1, पृ. 176

111. चन्द्र, प्रमोद, स्टोन स्कल्पचर्स इन दि इलाहाबाद म्यूजियम, पृ. 115

112. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या डी. 7

113. शाह, यू.पी.; आइकनोग्राफी ऑव चक्रेश्वरी, दि यक्षी ऑव ऋषभनाथ, जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इंस्टिट्यूट ऑव बड़ोदा, भाग 20, अंक 3, पृ. 286

114. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 21

115. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 37.2738

116. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या बी. 77

117. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 813;

118. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 57 स्मिथ, बी. ए.; जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज ऑव मथुरा; पृ. 107

119. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 236

120. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 793

121. तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद; पू. नि. पृ. 120

122. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ; पू.नि., पृ. 355

123. श्रीवास्तव, ए.एल.; आयागपट्टः जैन पूजा के प्रथम सोपान : नवनीत, वर्ष 29, अंक 12, पृ. 5; अग्रवाल, वी.एस.; कैटेलॉग ऑव मथुरा म्यूजियम : जर्नल ऑव यू.पी. हिस्टॉरिकल सोसायटी, भाग-23, अंक 1-2, पृ. 69-71

124. ब्यूलहर, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-1, पृ. 396

125. रामायण, 1/32112

126. अग्रवाल; वी.एस.; इण्डियन आर्ट, पृ. 231, 282, 285

127. शर्मा, रमेशचन्द्र; मथुरा म्यूजियम एण्ड आर्ट, पृ. 36

128. 'अर्हत पूजाये'

129. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या 66.46

130. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 66.46

131. तिलोयपण्णती, 913

132. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 268

133. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 659

134. सरकार, डी.सी.; सेलेक्ट इसंकृप्शन्स, बेस नगर गरूड़ स्तम्भ लेख, पृ. 89

135. हर्बट, हर्टल; द एक्सकेवेशन ऐट सोख : ए प्रिलिमिनरी रिपोर्ट : जर्मन स्कलॉर्स ऑन इण्डिया, भाग-2, पृ. 88, चित्र 27

136. शुक्ल, चन्द्रशेखर; कलश की अवधारणा; दैनिक जागरण, लखनऊ, 4 नवम्बर, 1988

137. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 267

138. आचार दिनकर, उत्तराध्ययन सूत्र, अभिधान चिन्तमणि

139. मजूमदार, रमेशचन्द्र; द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 426

140. ब्राउन; स्वास्तिक, पृ. 17.18

141. स्मिथ, बी.ए.; पू. नि.; फलक 9

142. शिवराममूर्ति; अमरावती स्कल्पचर्स इन दि गवर्नमेन्ट म्यूजियम मद्रास, फलक 21, चित्र 2

143. बाजपेयी, मधुलिका; पू. नि. पृ. 243

144. स्मिथ, बी. ए.; पू. नि.; फलक 69, चित्र 2

145. हर्बर्ट, हर्टेल, पू. नि.

146. जेम्स, बर्जेस; बुद्धिष्ट आर्ट इन इण्डिया, पृ. 161-163

147. जैन, शशिकान्त; हाथीगुम्फा इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ खारवेल एण्ड द भाब्रू एडिक्ट ऑफ अशोक, फलक 2

148. सरस्वती, एस. के.; ए सर्वे ऑफ इण्डियन स्कल्पचर्स, फलक 13, चि 59।

अध्याय पंचम्

शूरसेन जनपद में जैन वास्तुकला

जैन धर्म की वास्तुकला में उसकी आत्मा दृष्टिगोचर होती है। जैनों के तीर्थस्थल वास्तविक रूप में स्थापत्य कला के भण्डार स्वरूप हैं। इस सम्प्रदाय ने अपने तीर्थों को प्रायः बस्ती से दूर अथवा पहाड़ों आदि में स्थापित किया। जिसका मूल उद्देश्य शांत वातावरण में एकाग्रचित्त एवं आत्मिक चिन्तन करना रहा है।

ऐसे स्थानों से उपलब्ध मन्दिर एवं जैन प्रतिमाएँ अपनी एकाग्रता से भक्तों को ईश्वर के सानिध्य की अनुभूति कराती हैं।

कला की आवश्यकता कला के भावनात्मक पक्ष को प्रकट करने के लिए हुई और कला के विभिन्न रूपों का आविष्कार हुआ।

जैन धर्मानुयायी अपने मन्दिर जंगल या पहाड़ियों के ढलाव में और, जहाँ असीम क्षेत्र हो, वैसे वियावान स्थानों में बनाना पसन्द करते थे। समुद्र सतह से तीन हजार फुट ऊँचे शतुजंय एवं गिरनार पर्वतों के शिखर पर मन्दिरों के भव्य मन्दिर विद्यमान हैं। मन्दिर नगर निर्माण करने की विशिष्टता का अन्य धर्मों की अपेक्षा जैनों ने ही विशेष रूप से स्वीकार किया है।[1]

सभी भारतीय कलाएँ धार्मिक ही हैं और धर्म से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।[2]

शक-कुषाण युग में कला केन्द्र के रूप में शूरशेन जनपद की विशेष उन्नति हुई। यहाँ अन्य धर्मों की भाँति जैन धर्म का असाधारण विकास हुआ। इस क्षेत्र में ईर्ष्या द्वेष रहित विभिन्न कलाएँ पल्लवित होती रही

हैं। यहाँ धार्मिक सहिष्णुता भारतीय इतिहास में विशेष उपलब्धि कही जा सकती है।

शूरसेन जनपद से अनेक बड़े मार्ग होकर जाते थे। धर्म प्रचार एवं साधारण आवागमन तथा व्यापारिक सुविधा हेतु इनका प्रयोग होता था। एक बड़ा मार्ग शूरसेन जनपद से पद्मावती (ग्वालियर के पास पवाया), देवगढ़ होता हुआ विदिशा जाता था। व्यापारी एवं अन्य यात्री जो इन मार्गों से यात्रा करते थे। इन मार्गों के उपयुक्त स्थानों पर मन्दिरों, धर्मशालाओं का निर्माण कराते थे।[3]

जैन साधु वनों में निवास करते थे और भ्रमण में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। पर्वतों की प्राकृतिक गुफाएँ उनके लिए आश्रम का कार्य करती थीं।

प्रारम्भिक गुफाएँ अलंकरण विहिन थीं, परन्तु कालान्तर में उन्हें मन्दिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। ये गुफा मन्दिर जैन साधुओं के संयमित जीवन तथा उनके स्वेच्छया मृत्यु - वरण का स्मरण कराती है।[4]

वस्तुकला का विकास प्रतिमा अर्चना के परिमाणस्वरूप हुआ। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है कि वज्जिदेश और वैशाली में अर्हत चैत्यों का अस्तित्व था, जो बुद्ध पूर्व या महावीर स्वामी के पूर्वकाल में विद्यमान थे।[5]

प्रारम्भिक अवस्था में जैन वस्तुकला में मन्दिरों के साथ-साथ बौद्धों की भाँति स्तूपों के निर्माण की भी परम्परा अनेक शताब्दियों तक चलती रही। ऋग्वेद में ऊपर उठती अग्नि शिखाओं को स्तूप कहा गया है। परवर्ति वैदिक साहित्य के अनुसार यह किसी महापुरुष की स्मृति का सीधा - सादा वास्तु प्रतीक होता था।[6]

जैन स्थापतय कला ने भारत को स्थापत्य निर्माण में गौरवशाली स्थान प्रदान किया। जैनियों ने अपने तीर्थकरों को स्थापित करने के लिये देश के कोने-कोने में मन्दिर एवं विहारों का निर्माण करवाया तथा प्रतिमा स्थापित किया।[7]

जैन धर्म की विविध व्यवहारिक आवश्यकताओं ने विशेष कार्यों के लिए अपेक्षित भवनों की प्रकृति को भी प्रभावित किया।

जैन कला मुख्यतः धर्मोन्मुख रही, 'मानसार' ग्रन्थों में जैन प्रतिमाओं तथा भवन - निर्माण के नियमों का कठोरता से पालन करने को कहा गया है। इस प्रकार के नियम ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्मों की कला में भी थे।[8] ब्राह्मण, जैन और बौद्ध मन्दिरों में जो विशेष अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह स्वभावतः मुख्य मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता, पार्श्ववर्ती देवी-देवता तथा सम्बन्धित धर्म की पौराणिक कथाओं के अनुसार मूर्तियों के लक्षण आदि के कारण है।[9]

स्थापत्य पर वातावरण के प्रभाव का यथोचित महत्व समझते हुए हिन्दुओं की अपेक्षा जैनों ने अपने मन्दिरों के निर्माण के लिए सदैव प्राकृतिक स्थलों का ही चुनाव किया।[10]

ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं में स्थापत्य एवं प्रतिमाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं इनमें आयसपुर, लौह निर्मित शतगण दुर्ग तथा ईंट-पत्थर लकड़ी का बना शीत-ताप सुरक्षित गृह आदि का वर्णन है।[11]

प्राचीन शूरसेन जनपद के आदिकालीन स्थापत्य का सर्वप्रथम उल्लेख वाल्मीकिकृत रामायण में मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि श्री राम के शासनकाल से पूर्व असुरराज मधु का शासन इस क्षेत्र पर था और यहाँ के मधुबन में उसकी राजधानी थी।

वाल्मीकि का कथन है कि मधु का राज-भवन चमकदार एवं श्वेत रंग का ऊँचा और भव्य था।

श्री राम के शासनकाल में मधु का पुत्र लवण मधुबन का राजा था। वह महाबली होने के साथ ही साथ क्रूर और अत्याचारी भी था। राम ने उसके विरुद्ध अपने अनुज शत्रुघ्न को एक बड़ी सेना सहित मधुबन भेजा था।

लवण और शत्रुघ्न के बीच भीषण युद्ध हुआ, जिसमें असुरराज मारा गया। उसके पश्चात् शत्रुघ्न ने मधुबन के एक भाग को स्वच्छ करा कर

यमुना नदी के तट पर अर्द्ध-चन्द्राकार मथुरा को बसाकर शूरसेन जनपद को राजधानी बनाया।[12]

मथुरा की वह प्रथम बस्ती, वर्तमान नगर के दक्षिण-पश्चिम की दिशा में उस स्थान पर बसी थी, जिसे आज महोली कहते हैं।[13]

जैन धर्म में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् महान पुरुषों को 'तीर्थंकर' कहा गया है और उनकी संख्या चौबीस मानी गई है। पौराणिक दिव्य महापुरुषों में ऋषभदेव से लेकर नेमिनाथ तक को स्वीकार किया जाता है।

भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी को ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं।

आदिकाल से ही शूरसेन की प्रसिद्धि एक प्रमुख धार्मिक क्षेत्र के रूप में रही। सातवें तीर्थंकर के सम्मान में कुबेरा देवी ने कंकाली टीले पर एक स्तूप का निर्माण करवाया था, जिसे 'देव निर्मित' स्तूप' भी कहा जाता था।[14]

'स्तूप' शब्द मूलतः संस्कृत भाषा का है, जिसका अर्थ होता है 'ढेर' या 'टीला'। ऋग्वेद[15] में 'अग्नि स्तूप' एवं 'हिरण्य स्तूप' शब्दों का उल्लेख हुआ है।

प्रारम्भ में उल्टे कटोरे के समान स्तूप की रचना हुई। कालान्तर में मिट्टी के टीलों पर ईंटों की चिनाई की जाने लगी। आगे चलकर उन्हें ईंट-पत्थरों से पक्का भी बनाया जाने लगा। सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये स्तूपों के चारों ओर पहले लकड़ी के बाड़े लगाये जाते थे। कालान्तर में ईंट-पत्थरों द्वारा चौकोर घेरे बनाए जाने लगे थे।

वर्णित क्षेत्र के कंकाली टीले का स्तूप विशेष महत्वपूर्ण था। इसी के फलस्वरूप वर्णित क्षेत्र को जैन तीर्थ का महत्व प्राप्त हुआ था।[16]

'जिनप्रभसूरि' ने 'विविधतीर्थ कल्प' में भी उल्लेख किया है कि शूरसेन में सुपार्श्वनाथ के विहार के पश्चात् कुबेरा देवी ने एक रत्नजटित स्वर्ण स्तूप का निर्माण कराया था।

सुरक्षा की दृष्टि से तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में स्तूप के चारों ओर ईंट से बाड़ बना दी गई।

इस स्तूप के 'स्वर्ण निर्मित' एवं 'रत्न जटित' होने की बात तो अनुश्रुति हो सकती है किन्तु वह जैन धर्म का प्राचीनतम स्तूप था, जो प्रागैतिहासिक काल में निर्मित हुआ था।

कंकाली टीले के उत्खनन द्वारा एक अभिलिखित शिलापट्ट[17] प्राप्त हुआ, जिस पर 'देवी निर्मित बौद्ध स्तूप उत्कीर्ण है।[18] कंकाली टीले से प्राप्त उक्त शिलालेख पर अंकित शक संवत् 79 में वह बहुत अधिक प्राचीन एवं अपिरिचित हो गया था कि उसके निर्माण काल और निर्माता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। फलतः उसे 'देवनिर्मित स्तूप' की संज्ञा दी गई थीं।[19]

जैन धर्म में पूजा पद्धति के रूप में प्रतीकात्मक पूजा प्रारम्भ हुई और फलस्वरूप आयागपट्ट का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस पर स्तूप, मन्दिर एवं प्रतिमाओं का अंकन दृष्टव्य है।

प्रारम्भ में पाषाण की चौकोर खण्ड पर जैन धर्म के अष्ट मांगलिक चिन्ह-स्वास्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य-युग्म और दर्पण का अंकन किया जाता था। कभी-कभी इन पर निर्माताओं और उनके उपास्य तीर्थंकरों के नाम भी उत्कीर्ण किये जाते थे। इन प्रस्तर खण्डों को 'आयागपट्ट' कहा गया है।

'आयाग' शब्द संस्कृत भाषा के 'आर्यक'[20] शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'पूज्य' अथवा 'पूजनीय'।

जैन वास्तुकला में चैत्य वृक्ष का बहुत ही प्रमुख स्थान है। चैत्य वृक्ष का निर्माण प्रारम्भ से किया गया है। सुम्सुमारपुर के उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे महावीर स्वामी ध्यानस्थ हुए थे।[21]

'आवश्यक निर्युक्ति' में तीर्थंकर के निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् स्तूप, चैत्य वृक्ष एवं जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि ने भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात्

उनकी स्मृति में पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह– निषद्या-आयतन निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है।

'अर्द्धमागधी जम्बूद्वीपपण्णति' में तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-संस्कार तथा चैत्य-स्तूप निर्माण का विस्तृत वर्णन किया गया है।[22]

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे।

अध्ययन क्षेत्र में एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के विषय में उल्लिखित है कि प्राचीन काल में विद्याधरों द्वारा पाँच स्तूप निर्मित कराये गये थे। इन पाँच स्तूपों की ख्याति और स्मृति मुनियों की वंशावली से सम्बद्ध पाई जाती है।[23]

'वृहत्कल्पसूत्रभाष्य'[24] से ज्ञात होता है कि अध्ययन क्षेत्र के छियानब्बे गाँवों के चौराहों पर 'मंगल चैत्य' निर्मित किये गए थे, और उनमें अर्हत् प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थी। उद्देश्य यह था कि उनसे गाँवों के भवनों को स्थायित्व प्राप्त होगा।

जैन और अजैन सभी ग्रामीणों का यह लोक विश्वास था कि नव निर्मित भवनों के समीप 'मंगल चैत्य' न होने से उनके असमय ही गिरने की आशंक हो सकती है। उस लोक-विश्वास से जैन धर्म के तत्कालीन चैत्यों के प्रति जनता की आस्था का परिचय मिलता है।

1888 और 1891 ई. के मध्य फ्यूरर ने कंकाली टीले का उत्खनन कार्य किया और उन्हें खोजकार्य में एक स्तूप और दो मन्दिरों के अवशेष तथा असंख्य जैन कलाकृतियाँ प्राप्त हुई।[25]

कंकाली टीले से प्राप्त जैन पुरावेशेषों से यह ज्ञात होता है कि जैन प्रतिष्ठान एक ऐसे स्तूप के चारों ओर निर्मित हुआ था, जो कि अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर की वस्तु बन गया था। 157 ई. के शिलालेख[26] में जो एक प्रतिमा के पादपीठ पर उत्कीर्ण है और तथाकथित 'बोद्ध-स्तूप' पर अर्हत नन्द्यावर्त की प्रतिमा के स्थापित किए जाने का उल्लेख है।

शुंग-कुषाण काल में अध्ययन क्षेत्र की शिल्पशालाओं में सृजनात्मक प्रक्रिया अपने चरमोत्कर्ष पर थी। परिमणामस्वरूप यह नगर एक महत्वपूर्ण कला एवं स्थापत्य का केन्द्र बन गया। वैश्यों एवं समृद्ध व्यापारी वर्ग की धन-सम्पत्ति का जैन वास्तु-स्मारकों की समृद्धि में बहुत अधिक योगदान रहा।

वैश्य एवं व्यापारी वर्ग में प्रमुख रूप से श्रेष्ठी, सार्थवाह, वाणिज्य, गन्धिक आदि थे और सामान्य जन की अपेक्षा उनकी संख्या अधिक थी।

शिल्पकारों को अपनी अभिव्यक्ति करने का प्रमुख साधन चित्तिदार लाल बलुआ पत्थर था, जिसे सीकरी, रूपवास तथा ताँतपुर जैसे स्थानों से मंगाया जाता था।

एक शिलालेख जो ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में एक जैन मन्दिर के अस्तित्व में होने का प्रबल साक्ष्य प्रदान करता है, जिसमें उत्तरदासक नामक श्रावक द्वारा एक पासाद-तोरण समर्पित किए जाने का प्रमाण मिलता है।[27]

प्रारम्भ में जैन स्तूपों की बनावट बौद्ध स्तूपों के समान थी। सर्वाधिक प्राचीनतम जैन स्तूप के निर्माण का उल्लेख कंकाली टीले की मुनिसुव्रत की प्रतिमा की चरण-चौकी में उत्कीर्ण है। यह वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है।[28]

जैन धर्म की विभिन्न आवश्यकताओं ने प्रमुख प्रयोजनों के लिए विशेष भवनों की विशेषताओं पर अपनी छाप छोड़ी।[29]

जैनों ने अनेक क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों का अपने वास्तु निर्माण में प्रयोग किया। जैन मन्दिरों का प्रमुख उद्देश्य यही है कि उस स्थान पर शान्त मन से तीर्थंकरों के गुणों को चिन्तन कर सकें।

जैन पुराणों[30] में नगर, राजप्रासाद, भवन, हर्म्य, तोरण, वातायन, आँगन, सोपान, स्तम्भ, वन, उद्यान, कूप, देवालय और गुफा आदि वास्तुकला का उल्लेख किया गया है।[31] वास्तुकला का सुन्दर एवं जीवन्त

चित्रण जैन ग्रन्थों में मिलता है। यह भी उल्लिखित है कि भवन निर्माण के लिए नींव रखने से पूर्व भूमि को समतल बनाना श्रेयष्कर होता है।[32]

कनिष्क प्रथम के पूर्व का एक महत्वपूर्ण प्रस्तर लेख कंकाली टीले से प्राप्त हुआ है। वह एक शिल्पांकित सरदल खण्ड पर अंकित है। अभिलेख से यह विदित होता है कि धमघोषा ने एक पासाद दान में दिया था।[33]

एक महत्वपूर्ण आयागपट्ट[34] कंकाली टीले से उपलब्ध हुआ है। यह अभिलिखित आयागपट्ट है, और इससे यह विदित होता है कि लवणशोभिका की पुत्री वसु नामक गणिका ने निर्ग्रंथ अर्हतायन में एक मंदिर, सभाभवन, प्याऊ और एक शिलापट्ट दान में दिया था।[35]

इससे तत्कालीन चैत्यों की आकृति का अनुमान लगाया जा सकता है। जैन स्थापत्य के क्षेत्र में इसका विशेष महत्वपूर्ण स्थान है।

इस आयागपट्ट पर सामने चार सोपान, तोरण, लटकती माला, तीन सरदल, सबसे ऊपर दोनों ओर नन्दिपाद एवं श्रीवत्स, तोरण के दोनों ओर वेदिका स्तम्भ, सूची व उष्णीष उत्कीर्ण है। सादे स्तम्भों का अंकन दोनों ओर दृष्टव्य है जिनमें दायीं ओर का भाग क्षतिग्रस्त है।

उष्णीष पर एक-एक नृत्यांगना त्रिभंगमुद्रा में एक-एक हाथ से स्तूप को उठाये हुए अंकित है। स्तूप के अंड भाग के बीच वेदिका स्तम्भ का भाग दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस अभिलिखित महत्वपूर्ण आयागपट्ट से यह विदित होता है कि प्राचीन युग में नर्तकियाँ भी धार्मिक कार्यों में योगदान देती थी।

जैन वास्तुकला में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है मन्दिरों के खम्भे एवं स्तम्भ। स्तम्भों एवं खम्भों पर उकेरे गए दृश्य एवं चित्रावलियाँ स्थापत्य कला का अनूठा उदाहरण है।

कंकाली टीले से ईसवीं सन् प्रथम के पूर्व का एक अभिलिखित आयागपट्ट प्राप्त हुआ है।[36] इसके ऊपर व नीचे की पट्टी पर अष्टमांगलिक प्रतिहार्यों का अंकन दृष्टिगोचर होता है। नीचे की पट्टी पर त्रिरत्न, पत्तो के दोनों में माला, भद्रासन, मंगल कलश तथा ऊपर की

पट्टी पर मत्स्ययुगल, अस्पष्ट आधार पर दो कमान, श्रीवत्स तथा सरावसम्पुट अंकित है। चारों कोनों को चार-चार पत्तियों से अलंकृत किया गया है। दोनों ओर एक-एक स्तम्भ निर्मित है। लेख से विदित होता है कि सिंहनन्दी नामक किसी व्यक्ति ने अर्हत पूजा के लिए आयागपट्ट का निर्माण करवाया था।[37]

अध्ययन क्षेत्र से कला के सुन्दरतम उदाहरण के रूप में आयागपट्ट उत्खनन द्वारा प्रकाश में आये हैं। ये आयागपट्ट अलंकृत एवं शिल्पकारों की भावनाओं का अत्यन्त उत्तम प्रदर्शन है।[38]

मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित आयागपट्टों पर प्रतीकों एवं वास्तु शिल्प का अंकन दृष्टव्य है।[39]

एक चौकोर आयागपट्ट जो लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है।[40] इस पर लेख उत्कीर्ण किया गया है और उससे यह विदित होता है कि अचला ने इस आयागपट्ट को अर्हत पूजा के लिए स्थापित करवाया था। यह प्रथम शती ई. पू. का है।

इसमें खण्डित श्रीवत्स, स्वास्तिक, कमल, मत्स्ययुग्म, जिनके मुँह में माला है, शृंगार, निधिसहित पात्र, भद्रासन तथा त्रिरत्न अंकित है। आयागपट्ट घिसकर विरूपित हो चुका है। वर्तमान में यह राज्य संग्रहालय में संग्रहीत है।

साहित्य की भाँति जैन कला का प्रमुख लक्ष्य आत्मा को परमात्मा के रूप में परिवर्तित करना। कला का प्रमुख कार्य यह है कि अनुयायियों के हृदय में धैर्य, शान्ति, शुचिता, अनाशक्ति, दानशीलता, कर्त्तव्य परायणता और श्रद्धा– भक्ति के साथ सादगी तथा त्याग की भावना का बीजारोपण करना है।

कंकाली टीले से प्राप्त एक कुषाण कालीन शिलालेख एक खण्डित प्रतिमा की चरण– चौकी पर उत्कीर्ण है। प्रस्तर लेख में उल्लिखित है कि अर्हतों के मन्दिर में महावीर स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा और एक जिनालय का निर्माण करवाया गया।[41]

उक्त शिलालेख से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में जैन धर्म के प्रति अपार श्रद्धा– भक्ति थी। मूर्तिकला की भाँति ही वास्तुकला के क्षेत्र में कुषाण युग में उन्नति हुई।

कुषाण कालीन एक खण्डित शिलापट्ट पर 'विहार' शब्द उत्कीर्ण हैं यह प्रस्तर मथुरा संग्रहालय में दृष्टव्य है।[42] इस प्रकार कला की दृष्टि से देवगढ़ के जैन मन्दिर[43] तथा खजुराहों के जैन मन्दिर[44] का महत्वपूर्ण स्थान है।

मन्दिर, स्तूप एवं विहार के अतिरिक्त अध्ययन क्षेत्र से जैन वातायनों के उदाहरण भी दृष्टव्य है। एक अक्षत वातायान में चारों कोनों पर वर्गाकार प्रणाली बनाई गई है, केन्द्रीय भाग की जाली में हीरक पंक्तियों का अंकन दृष्टिगोचर होता है। चारों भुजाओं पर चार पंखुड़ियों वाले पुष्प उत्कीर्ण हैं। एक खण्डित जाली में पुष्पों के समूह का अंकन दृष्टव्य है।[45]

स्तूप की एक आकृति राष्ट्रीय संग्रहालय[46] में एक खण्डित तोरण शीर्ष पर हैं, यह अधिकांशतः आधे से कुछ कम है। यह किसी मन्दिर का खण्ड है तथा बहुत ही आकर्षक है। इसमें स्तूप की सभी विशेषतायें दृष्टव्य है– जैसे कि नीचे अर्द्धवृत्ताकार शिखर है, एक ऊँचा बेलनाकार शिखर दो वेदिका के मध्य में उत्कीर्ण है।[47]

उक्त स्तूप की प्राप्ति वर्णित क्षेत्र के कंकाली से हुई तथा कुषाण कालीन है।

स्तूप के सबसे अधिक निकटतम पीठिका के ऊपर स्थापित शिलापट्ट के मध्य भाग में एक कला-पिण्ड है, जो चार– त्रिरत्नों के आधार पर वृत के रूप में उत्कीर्ण है। त्रिरत्नों का ऐसा अंकन आयागपट्ट के अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है।[48]

वास्तुकला के दृष्टिकोण से स्तूप निर्माण की मान्यता जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म दोनों में समान रूप से रही परन्तु कालान्तर में जैन धर्म ने स्तूप निर्माण की परम्परा का त्याग कर दिया, किन्तु बौद्ध धर्म में स्तूप निर्माण एवं पूजन की प्रथा प्रचलित रही।

एक महत्वपूर्ण स्तूप का शिल्पांकन एक खण्डित प्रस्तर आयागपट्ट पर किया गया है; जिसका नीचे का भाग ही सुरक्षित है।[49]

यह महत्वपूर्ण अभिलिखित आयागपट्ट कुषाणकाल का है और कंकाली टीले की देन है। लेख से यह विदित होता है कि एक नर्तक की पत्नी शिवयशा ने अर्हतों की पूजा के लिए दान में दिया था।[50]

स्तूप की प्रमुख विशेषताएँ अन्य स्तूप के समान हैं परन्तु इसकी पीठिका की ऊँचाई कम है। फलस्वरूप तोरण तक पहुँचने के लिए चार सीढ़ियाँ पूर्णरूप से सुरक्षित हैं।

मुख्य स्तूप के दोनों ओर दो स्तम्भ हैं तथा स्तूप के ऊँचे बेलनाकार शिखर की निम्न तलवेदी ही सुरक्षित है। कुशलता से उत्कीर्ण तोरण के वक्राकार सरदलों के सिरे मुड़ी हुई पूछों वाले मकरों के समान दृष्टिगोचर होता है। दोनों ओर एक स्त्री आकृति एवं एक-एक स्तम्भ अंकित है।

स्तम्भों तथा शिलाखण्डों के बीच में जालियाँ निर्मित हैं। निचले सरदल के केन्द्रीय भाग से माला सहित एक कमल-गुच्छ लटक रहा है।

एक अन्य लघु स्तूप का अंकन एक तोरण शीर्ष पर दृष्टिगोचर होता है। यह लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। यह तोरण शीर्ष कंकाली टीले से प्राप्त हुआ है तथा कुषाण काल की विशेष देन है।[51]

तोरण-शीर्ष अलंकृत है। तीन भागों में विभक्त है तथा बीच में तीन पट्टियाँ हैं। ऊपर कोनों पर उड़ते हुए विद्याधर हाथ में माला लिए हुए हैं।

मध्य की पट्टी पर जिन भगवान का लघुरूप अंकित है और दोनों ओर से उपासक अर्चना कर रहे हैं। सबसे ऊपर के भाग में मध्य में स्तूप का शिल्पांकन किया गया है। स्तूप के दोनों ओर उपासक हाथ जोड़े हुए खड़े हैं।

सबसे नीचे के भाग में लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। यह अलंकृत तोरण-शीर्ष तत्कालीन सौन्दर्यता का बोध कराते हैं।

लखनऊ संग्रहालय में एक स्तम्भ सुरिक्षत है, जिस पर दांयीं ओर स्तूप का अंकन है।[52] स्तूप में एक वेदिका ऊपर एक वेदिका नीचे

अंकित है। सबसे ऊपर एक चौकोर हर्मिका का अंकन है। स्तूप के चारों ओर पताकाएँ फहर रही हैं। शोभा-यात्रा के दृश्य का अंकन स्तूप पर दृष्टिगोचर होता है।

उपलब्ध साक्ष्यों से यह विदित होता है कि जैन स्तूपों के ढोलाकार शिखरों को, साँची के स्तूप संख्या एक, दो तीन की भाँति अलंकृत नहीं किया गया है।[53] इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन धर्मावलम्बी इसे शुचिता का प्रतीक मानते थे, फलस्वरूप वे आडम्बरहीन स्तूपों का निर्माण कराते थे।

मथुरा स्थापत्य, कला शैली के अन्तर्गत वेदिकाओं और तोरणों को अलंकृत निर्मित किया गया है।

वेदिका स्तम्भ को वर्गाकार एवं अष्ट भुजाकार बनाया गया है।[54] इनमें कला प्रतीकों का अंकन सीमित किया गया है। सबसे अधिक कमल का अंकन प्राप्त होता है।

एक वेदिका स्तम्भ के फूल्ले में कमल के बीच में स्तूप का अंकन किया गया है।[55]

एक फलक पर स्तूप का अंकन किया गया है।[56] नीचे दो स्तम्भ दांये-बांये निर्मित है। एक देव नमन मुद्रा में सातफणी टोप के नीचे खड़े हैं। नीचे दो उपासक हाथ जोड़े हुए तथा एक बालक खड़ा है।

अभयमुद्रा में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देवी खड़ी हैं। पीछे की ओर वृक्ष की पत्तियाँ अंकित हैं। देवी व साधु के मध्य 'कण्हसमण' लेख अंकित है। स्तम्भ पर दो निकली हुई पट्टी के मध्य में दायें दो तीर्थंकर ध्यानस्थ हैं। बांये दो जिन भगवान एक पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी ध्यानस्थ हैं। इन दोनों जिनों के मध्य स्तूप को स्पष्ट दर्शाया गया। उस समय स्तूप जिन भगवान की भाँति पूज्य थे। यह कुषाणकालीन तथा लाल बलुए पत्थर पर निर्मित है। यह कंकाली की अमूल्य देन है।

वर्णित क्षेत्र के कंकाली टीले से मसूराकार सूचियाँ उपलब्ध हैं, जिनका आकार एक समान नहीं है। स्थापत्य कला के स्तम्भ पर एक-

एक नारी प्रतिमा अंकित है, जो अशोक वृक्ष के नीचे दीन मुद्रा में झुके हुए बौने पुरुष की पीठ पर अपनी देह में आकर्षक आँकुचन लिए हुए खड़ी है और एक पुष्पकाल से अपना केश विन्यास कर रही है।[57]

सोपान की वेदिकाओं पर उत्कीर्ण शिल्पांकन भी कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्टतम् है। एक तीरछे स्तम्भ पर अशोक वृक्ष के नीचे एक अपने वाम हाथ को ऊपर उठाये हुए, जिस पर एक थाली स्थित है। थाली में कुछ वस्तुएं रखी हैं। और जिस पर शंकु के आकार का ढक्कन लगा हुआ है।

नारी अपने दाहिने हाथ में एक मूँठ वाला पात्र पकड़े हुए है, जिसका तल ऊँचा है। पृष्ठ भाग पर कमल कला- पिण्ड का अंकन दृष्टिगोचर होता है। यह वेदिका-स्तम्भ कुषाण युगीन है।[58]

वास्तुकला के अभिन्न अंग में प्रयुक्त होने वाले दो टोडे कंकाली टीले के उत्खनन द्वारा प्रकाश में आये। ये टोडे भिन्न प्रकार के हैं। तोरण के टोडे में शालभंजिकाओं का अंकन दृष्टिगोचर होता है।

दोनों तोरण-तोडो के आधार में एक चूल है जो स्तम्भ के कोटर में स्थित कर दी जाती थी।[59]

तोरण स्तम्भों में कुषाण कालीन स्तम्भों के शिल्पांकन विशेष रूप महत्पूर्ण हैं। इनमें से एक अभिलिखित है, जिसमें श्राविका बल हस्तिनी द्वारा एक तोरण के समर्पण का वर्णन है।[60]

साँची के समान इन स्तम्भों के दो पार्श्व नीचे से ऊपर की ओर अनेक फलकों में बँटे हुए हैं।[61]

वास्तुशिल्प के एक तोरण में दो सुपर्ण जो आधा मनुष्य-आधा पक्षी है और पाँच किन्नरों द्वारा स्तूप अर्चना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। पाँचों किन्नरों के सिर पर पगड़ी है जैसा कि बौद्ध शिल्प में अभिजात्यवर्ग के मनुष्यों के दिखाई देती है। जहाँ सुपर्णस्तूप की अर्चना कर रहे हैं, साँची के उभरे हुए शिल्प में दृष्टव्य है।[62]

अध्ययन क्षेत्र से प्राप्त वास्तुशिल्पीय पुरातात्विक अवशेषों की संख्या कुषाण युग के पश्चात् अल्प हो जाती है। विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप जैन स्थापत्य कला के उदाहरण सर्वथा नष्ट हो गये।

साधारण जनमानस ने अपने घरों के आँगन तक ही जैन वास्तुकला को सीमित कर दिया था। जैन धर्म को बौद्ध धर्म की भाँति अशोक महान् और कनिष्क जैसा सम्राट नहीं मिला, अपितु साँची, भरहुत और अमरावती के स्तूपों के समान जैन धर्म का स्तूप भी विद्यमान होता।

वर्णित क्षेत्र से प्राप्त कलाकृतियों के अध्ययन से यह दृष्टिगत होता है कि मन्दिर निर्माण की परम्परा बनी रही, परन्तु कोई भी सम्पूर्ण प्राचीन जैन स्थापत्य कला का पूर्ण अवशेष मन्दिर वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है।

उड़ीसा के और गुजरात के जूनागढ़ या गिरनार के गुहामन्दिर और निवास अपनी सूक्ष्म तक्षण कार्य की वेष्टनियों सहित और छोटी से छोटी बात और सजावट में परिपूर्ण और मथुरा के अवशेषोंके सुन्दरता से सजे तोरण व आयागपट्ट वास्तुकला के अवशेष के रूप में ही नहीं अपितु उसके जीवन्त उदाहरण हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. फरग्यूसन, जे.; हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग-2, पृ. 24; स्मिथ, बी.ए.; ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन पृ. 11
2. कुमारस्वामी, ए. के.; दि आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स ऑफ इण्डिया एण्ड सिलोन, पृ. 16
3. वाजपेयी, कृष्णदत्त; मध्यप्रदेश की प्राचीन जैन कला, अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 22
4. उपाध्ये आदिनाथ; जैन कला की आचारिक पृष्ठभूमि, जैन कला और स्थापत्य, भाग 1, पृष्ठ 45

5. जैन, ज्योति प्रसाद; जैन कला का उद्‌गम और उसकी आत्मा, जैन कला और स्थापत्य, भाग 1, पृ. 41

6. आश्वालायन, गृह्यसूत्र, 4, 5, 9, 10, (नारायण भाष्य) पूना, 1936 (सं.) बी. एस. रानाडे

7. स्मिथ, बी. ए.; पू. नि., पृ. 9

8. जैन, ज्योतिप्रसाद; पू. नि. पृ. 38

9. घोष, अमलानन्द; प्रस्तावना, जैन कला और स्थापत्य, भाग 1, पृ. 5

10. लांगहर्स्ट, ए. एच.; हम्पी, पृ. 99

11. ऋग्वेद, 2.20, 8, 7, 3.7, 7, 15, 14, पृष्ठ 57

12. रामायण, उत्तरकाण्ड, 70-5, 6, 8

13. कनिंघम, एं.; आर्कयोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 20, पृ. 31; कल्याण, विजय; श्रमण भगवान महावीर, पृ. 379

14. शाह, यू.पी.; स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 63

15. ऋग्वेद, 7-2-1, 1-24-27

16. मीत्तल, प्रभुदयाल; ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 21

17. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 20

18. एपिग्राफिया इण्डिका भाग 2, सं. 20; ल्यूडर्स लिस्ट, सं. 47; ऑर्किलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, पृ. 141 : मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स, पृ. 41, 42

19. मीत्तल, पू. नि., पृ. 23

20. अग्रवाल, वि. एस.; इण्डियन आर्ट, पृ. 231

21. भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, 32, 143

22. 2, 23

23. हरिषेण; बृहत्कथाकोष, 12, 132

24. 1, 1774

25. स्मिथ, वी.ए.; दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वीटीज ऑव मथुरा, भूमिका, पृ. 2, 3

26. ल्यूडर्स; लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स 1912, क्रमांक 47

27. एपिग्राफिया इण्डिका; भाग-2, 1893-94, ल्यूडर्स, पू.नि., क्रमांक 93

28. वाजपेयी, कृष्णदत्त; मथुरा का देव-निर्मित स्तूप, श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ, भाग 1, 1948-49, पृ. 188-91

29. स्मिथ, वी.ए.; पू. नि., पृ. 9

30. शास्त्री, नेमिचन्द्र; आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. 292

31. तिलोयपण्णति, 2/22-26

32. वृहत्कल्पभाष्य, पीठिक 3313, दीघ निकाय, 1, पृ. 9

33. एपिग्राफिया इण्डिका; भाग-2, 1893, 94 99; ल्यूडर्स, पू. नि., क्रमांक 99, राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 540

34. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या क्यू. 2

35. जर्नल आफ दी यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी (ओल्ड), 23, 1940, 69, ल्यूडर्स, पू. नि. क्रमांक 102

36. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 252

37. शाह, यू.पी.; स्टडीज इन जैन आर्ट पृ. 80; एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-2, पृ. 207, सं. 30

38. श्री निवासन, डी.एम.; मथुरा– दि कल्चरल हेरिटेज, पृ. 333

39. जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर भाग-1, पृ. 64

40. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 686

41. ल्यूडर्स; पू. नि.9 क्रमांक 78, महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबली वाल्यूम, मुम्बई 1968, पृ. 149

42. जर्नल ऑफ दि यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी, (ओल्ड) 23, 1950, 71

43. ब्रून; दी जिन इमेजज ऑफ देवगढ़, लिडेन, 1969 ई.
44. कृष्णदेव; टेम्पल्स ऑफ खजुराहो इन सेण्ट्रल एन्श्येन्ट इण्डिया, भाग 15, 1959, ई. पृ. 43-65
45. स्मिथ; पू. नि., चित्र 41
46. राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली जे. 555
47. मित्रा, देबला; मथुरा, पृ. 65, जैन स्थापत्य और कला भाग-1
48. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 249, जे. 250 जे. 253, राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 48, 3424
49. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 255
50. एपीग्राफिया इण्डिका, भाग-2, सं. 200; ल्यूडर्स, पू. नि., क्रमांक 100
51. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या बी. 207
52. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 355
53. मित्रा, देबला; पू.नि., पृ. 60
54. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 283, जे. 288, जे. 282
55. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या 178, एपीग्राफिया इण्डिका, भाग-1, सं. 22; ल्यूडर्स पू. नि.; सं. 75
56. मित्रा, देबला; पू. नि., पृ. 59
57. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 277
58. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 14.369
59. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 595 क और ख
60. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 532: ल्यूडर्स, पू.नि., सं. 108
61. मित्रा देबला; पू. नि., पृ. 63
62. फरग्यूसन, जे.; ट्री एण्ड सर्पेट वर्शिप, प्लेट 37, चित्र 1

अध्याय षष्टम्

शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति

षोड्स महाजनपदों में शूरसेन जनपद भी अपना विशिष्ट स्थान रखता था। इस जनपद में जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार हुआ। सर्वश्रेष्ठ कलात्मक विकास इस जनपद में दीर्घकाल तक दृष्टिगोचर होता है। शूरसेन जनपद में जैन धर्म एवं संस्कृति का सर्वोन्मुखी विकास हुआ।

भारत के पुरातात्विक और ऐतिहासिक सन्दर्भ में वैदिक संस्कृति और जैन संस्कृति का अस्तित्व प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जाता है।

संस्कृति जन का मस्तिष्क है और धर्म जन का हृदय।[1] जैन धर्म के विषय में उपलब्ध परम्परा और साक्ष्यों के अध्ययन से यह विदित होता है कि जैन धर्म का प्रारम्भ किसी व्यक्ति विशेष या स्थान विशेष से नहीं हुआ है अतः यह स्वाभाविक है कि जैन धर्म के विकास का सम्बन्ध उस काल विशेष से सम्बन्धित है, जबसे किसी पुरुषार्थी योगी ने आत्म-स्वभाव को जानने के लिए साधना की। राग-द्वेष से मुक्त आत्मविजय करने वाले व्यक्ति जिन कहलाये।[2]

शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा नगरी भारत की ही नहीं अपितु विश्व की प्राचीनतम सांस्कृतिक प्रमुख नगरियों में से एक सांस्कृतिक नगरी रही है। पवित्र यमुना के दक्षिण तट पर बसी यह रम्य प्राचीनकाल से ही अध्यात्म, विविधधर्म, संस्कृति, साहित्य और विविध कलाओं आदि के क्षेत्र में अग्रणी और वैभव सम्पन्न रही है। सर्वधर्म समभाव का तो

शूरसेन जनपद केन्द्र स्थल रहा है। जिसे यहाँ के विभिन्न धार्मिक-सांस्कृतिक परम्पराओं, मन्दिरों, मूर्तियों एवं अन्य अवशेषों के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

शूरसेन जनपद की संस्कृति को 'ब्रज संस्कृति' भी कहते हैं। भगवत धर्म के उदय के पश्चात् शूरसेन की राजधानी मथुरा में जैन संस्कृति पर अन्य धर्मों एवं परम्पराओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। फलस्वरूप शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति के विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी ने रूढ़िवादी वर्ण व्यवस्था, पाखण्ड, असमानता और धार्मिक कर्म-काण्डों को अस्वीकार कर समता स्थापित करने में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया। भगवान महावीर स्वामी ने आत्म संयम के साधना नियन्त्रण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना की।

संस्कृति घटक है– सम+स+कृति। सम का अर्थ है– सम्यक, स का अर्थ है– शोभाधायक तथा कृति का अर्थ है– प्रयत्न। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ है– शोभाधायक विवेक सम्मत प्रयत्न।[3]

संस्कृति लोक मांगलिक उपयोगी-प्रयत्नों के मूल में निहित मूल्यों की समष्टि का नाम है। भौतिक जीवनयापन के समुन्नत साधनों से मनुष्य की सभ्यता का आंकलन किया जाता है और लोक मंगलोपयोगी मूल्यों से संस्कृति का मूल्यांकन होता है।

उच्चतम चिन्तन का नाम ही संस्कृति है। भारत का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र होने के कारण शूरसेन जनपद को प्राचीन काल में अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। शूरसेन जनपद का सांस्कृतिक सम्पर्क ईरान, यूनान तथा मध्य एशिया के साथ बहुत घनिष्ठ रहा है। शूरसेन जनपद विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक मिलन का एक बड़ा केन्द्र बना।

शूरसेन जनपद के प्रमुख कला केन्द्रों कंकाली टीला, शौरिपुर, बटेश्वर, जैन चौरासी, सोंख, बरसाना, मठ, चौबिया पाड़ा और

कटराकेशव देव आदि की खुदाई के द्वारा बहुसंख्यक जैन पाषाण कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं।

जैन धर्म ने न केवल मनुष्यों को आध्यात्मिक व नैतिक स्तर पर उठाने का प्रयत्न किया। अपितु शूरसेन जनपद के भिन्न-भिन्न भागों को सांस्कृतिक गरिमा प्रदान की। इनके दर्शन से हृदय पवित्र और आनन्द विभोर हो जाता है।[4]

जब जैन संस्कृति शब्द का प्रयोग किया जाता है तब इससे तात्पर्य यह है कि जैन धर्मानुयायियों का एक समाज है और वह अपनी संस्कृति की पहचान कराने वाली आचार एवं विचारगत विशेषताओं से मण्डित है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य संस्कृतियों के हृदय से जैन संस्कृति की आत्मा भिन्न है। सर्वोन्मुखी संस्कृति के रूप में श्रमणों ने अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित की।[5]

जैन धर्म ने वर्ण-जाति रूप समाज विभाजन को कभी महत्व नहीं दिया। आज के ईर्ष्या और संघर्ष के विष से जलते हुए संसार को जीवमात्र के कल्याण और उत्कर्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत इस अमृत समान उपदेश की सर्वाधिक आवश्यकता है।[6]

बौद्धों ने भी शूरसेन जनपद की राजधानी में अपने अनेक केन्द्र स्थापित किए। अनेक पौराणिक देवताओं की प्रतिमाओं की भाँति भगवान बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण भी सबसे पहले मथुरा कला शैली के अन्तर्गत हुआ। यह स्थान भारत का एक प्रमुख केन्द्र है।

भगवान कृष्ण की जन्म तथा लीला क्षेत्र मथुरा है तो बाइसवें जैन भगवान नेमिनाथ का जन्म स्थान शौरिपुर है तथा दोनों चचेरे भाई के रूप में वर्णित किये गए है।[7] इस अवसर पर देवताओं ने नेमिनाथ भगवान के गर्भ और जन्म कल्याणकों का महान् उत्सव शौरिपुर में मानया।[8]

सबसे प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता यह दृष्टव्य होती है कि वैदिक-पौराणिक, जैन तथा बौद्ध धर्म शूरसेन जनपद में सदैव शताब्दियों

तक साथ-साथ विकसित होते रहे। फलस्वरूप इस जनपद में समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाओं में वृद्धि हुई। इन प्रमुख धर्मों के केन्द्रों में बिना पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के सांस्कृतिक प्रगति होती रही।

इस प्रकार शूरसेन जनपद में इस धार्मिक सांस्कृतिक समन्वय ने एक उच्चतम संस्कृति का सृजन किया जहाँ पर भगवान कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया तो वहीं पर भगवान महावीर ने अहिंसा के सिद्धान्त को विश्वव्यापी बना दिया। जैन धर्म में राग-द्वेष को भी हिंसा माना गया है।[9]

सांस्कृतिक विकास में प्रमुख केन्द्र तक्षशिला, शूरसेन वाराणसी, देवगढ़, उज्जयिनी, विदिशा, नालन्दा विक्रमशिला, प्रतिष्ठान, श्रवणबेलगोला, कलिंग, बल्लभी और पुण्ड्रवर्धन आदि का महत्वपूर्ण योगदान था।[10]

शूरसेन जनपद में जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का समवसरण आया था। उनके उपदेशों को सुनकर नगर श्रेष्ठी उदितोदय, उनके मन्त्री, राज्याधिकारी और अनेक नागरिक भगवान महावीर के धर्मानुयायी बन गये थे।

शनैः शनैः शूरसेन जनपद में जैनधर्म जन साधारण का धर्म बन गया और वहाँ जैन संस्कृति का दर्शन प्रतिमाकला एवं स्थापत्यकला में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, तथा अन्य संस्कृतियों पर भी इसका प्रभाव दृष्टव्य है।

महावीर की मृत्यु के पश्चात जैन धर्म दो भागों में विभक्त हो गया— दिगम्बर एवं श्वेताम्बर। महावीर के प्रमुख शिष्यों में अन्तिम एवं सर्वज्ञ जम्बू स्वामी थे।[11] जम्बू स्वामी ने जैन संघ के संचालन का भार चौबीस वर्षों तक वहन किया।[12] जम्बूस्वामी को दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अनुयायी अपना-अपना आचार्य मानते हैं जम्बू स्वामी जैन आचार्यों में अन्तिम केवली थे। उनके पश्चात् किसी को केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका।[13]

अन्तिम केवली श्री जम्बू स्वामी के शूरसेन जनपद के चौरासी क्षेत्र में मोक्ष प्राप्त करने के कारण यह स्थान पावन सिद्ध क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[14]

शूरसेन जनपद के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र शौरीपुर में श्रीधन्य, यम, विमलासुत, अलसत्कुमार कैवलियों को निर्वाण प्राप्त हुआ था। फलस्वरूप शूरसेन जनपद की गणना सिद्ध क्षेत्रों में की जाने लगीं।[15]

शूरसेन जनपद के विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों से उत्खनन द्वारा अभिलेखिय साक्ष्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि तत्कालीन समाज में गन्धिक, लोहार, सार्थ, सुनार, कपास व्यापारी, रंगरेज आदि सामान्य जातियाँ भी जैन धार्मिक कार्यों में उत्साह के साथ भाग लेती थीं। प्रतिमाओं के पाद-पीठों पर इनकी कलात्मकता का उल्लेख मिलता है। इनका विस्तार से वर्णन मूर्तिकला के अध्याय में किया गया है।[16]

शूरसेन जनपद के सास्कृतिक विकास में वहाँ के आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। क्योंकि शूरसेन जनपद व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। इस नगर में स्वर्ण, रजत, धन-धान्य आदि का क्रय-विक्रय होता था। यहाँ सार्थवाह रहते थे।

'पद्मचरित' में वर्णित है कि शूरसेन जनपद में कस्तूरी, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्र, गज, अश्व, ऊँट और गाय का व्यापार होता था। कृषि के लिए यह जनपद प्रसिद्ध था।[17]

प्राचीन भारत में शूरसेन जनपद एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। तक्षशिला से चलकर सकल, स्याल कोट एक महाजनपथ शूरसेन जनपद में आकर दो भागों में विभक्त हो जाता था। एक शाखा कन्नौज, प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र से होते हुए ताम्रलिप्ति को चली जाती थी। यह मार्ग उत्तरापथ कहलता था। दूसरा मार्ग उज्जयिनी होते हुए पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित भरुकच्छ (भड़ौंच) को जाता था।[18]

शूरसेन जनपद से वेरंजा, सोरों, संकिसा, कान्यकुब्ज एवं प्रयाग से होते हुए एक मार्ग उत्तरापथ के मार्ग में मिल जाता था, जहाँ से गंगा पार करके वाराणसी तक मार्ग जाता था।[19]

मगध साम्राज्य में कोशल और वज्जि जनपदों के मिल जाने से उत्तर प्रदेश से लेकर कजंगल (कुरुक्षेत्र) तक का महापथ मगध के अधिकार

में आ गया। गंगा के मैदान का दक्षिणी मार्ग इन्द्रप्रस्थ से शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा होता हुआ इलाहाबाद के पास कौशाम्बी पहुँचता था और वहाँ से चुनार जाता था।[20]

महाभारत में देशी और विदेशी बन्दरगाहों का उल्लेख मिलता है। इन्द्रप्रस्थ से चलकर एक मार्ग मथुरा-मालवापथ से माहिष्मती होकर पोतनपुर पैठन[21] (बोधन जो हैदराबाद राज्य में मंजिरा और गोदावरी नदियों के संगम के दक्षिण में स्थित था) पहुँचता था।[22]

शूरसेन जनपद घोड़ों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। उपगुप्त की कथा में उल्लिखित है कि शूरसेन जनपद में एक पंजाब का व्यापारी पाँच सौ घोड़े लेकर आया। वह इतना धनी था कि शूरसेन जनपद की राजधानी में प्रवेश करते ही उसने वहाँ की सबसे बहुमूल्य गणिका की माँग की।[23]

काशी और इन्द्रप्रस्थ के मध्य जल मार्ग द्वारा भी व्यापार होता था। काशी से नाव द्वारा गंगा से प्रयाग उसके बाद व्यापारी यमुना द्वारा इन्द्रप्रस्थ पहुँचते थे।[24] इससे यह स्पष्ट होता है कि शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा जलमार्ग द्वारा व्यापार करने का प्रमुख केन्द्र भी रही।

शूरसेन जनपद में सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। सिंचाई के लिए रहटों का प्रबन्ध था। गेहूँ, धान, गन्ना, चना, कोंदो, मूंग, उड़द और मोंट आदि समस्त धान्य उत्पन्न होते थे। गेहूँ की खेती शूरसेन जनपद में विशेष रूप से होती थी। दूध-दही की प्रचुरता थी।[25]

शूरसेन जनपद आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्धि एवं सम्पन्न था। सामान्य जनता भी, गन्ध माला, दूध आदि पदार्थों का उपभोग करती थी। यात्रियों को विश्राम के साथ-साथ भोजन भी प्राप्त होता था। यात्रियों के लिए प्याऊँ, भोजन-शालाएँ और विश्राम शालाएँ भी निर्मित थीं।[26]

शूरसेन जनपद व्यापार के लिए विख्यात था। यहाँ वस्त्र उत्तम कोटि का निर्मित होता था। मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित प्रतिमाएँ बनारस, श्रावस्ती तथा अन्य स्थानों को भेजी जाती थीं।[27]

भोजन मनुष्य के जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। 'आचारांग सूत्र' में अनेक फलों जैसे केला, विल्व, नारियल, ताड़, श्रीपर्णी, दाड़िम, कसेरू और सिंघाड़ा आदि फलों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि जैन समाज में धार्मिक दृष्टि से मांसाहार वर्जित है।[28]

शूरसेन जनपद में मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला के माध्यम से इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विकास हुआ। कंकाली टीले के उत्खननों द्वारा असंख्य प्रतिमाएं प्रकाश में आयीं, जिनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शूरसेन जनपद कला का एक प्रमुख केन्द्र था। भगवान ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर स्वामी की अनेक प्रतिमाएँ प्रमुख रूप से उपलबध हुई हैं।

शूरसेन जनपद से प्राप्त प्रतिमाओं के अध्ययन से विदित होता है कि जैन धर्मानुयायियों में विदेशी भी होते थे परन्तु जैन धर्म ने जाँति-पाँति को तोड़कर विदेशियों को भी आत्मसात कर लिया था। फलस्वरूप विदेशियों ने भी दान आदि कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका अभिनित की।

शूरसेन जनपद में महिलाओं ने जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की। यह भाव उनके द्वारा स्थापित किये गये दान आयागपट्ट, प्रतिमाएं तथा अन्य कलाकृतियों की उपलब्धता से ज्ञात होता है। तत्कालीन समय में स्त्रियों का सम्माननीय स्थान था। उन्हें भी धार्मिक कार्य करने की स्वतन्त्रता थी।

कंकाली टीले से प्राप्त एक ई. पू. प्रथम शती का आयागपट्ट[29] प्राप्त हुआ है। लेख के अनुसार फर्गुयश नर्तक की पत्नी शिवयशा ने स्थापित करवाया था।[30] इससे यह स्पष्ट होता है कि शूरसेन जनपद में प्रत्येक वर्ग को स्वेच्छा से सांस्कृतिक एवं धार्मिक कार्यों को करने की स्वतन्त्रता थी। अन्य प्रतिमाओं में अंकित नारी आकृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति थी।[31]

'ऋग्वेद' में 'नृत' शब्द का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है 'नर्तकी'।[32] 'वाजसनेयी संहिता' में वेश्यावृत्ति को एक पेशा स्वीकार

किया गया है, परन्तु स्मृति ग्रन्थों में इस पेशे को सम्मानजनक नहीं कहा गया।[33]

जातक ग्रन्थों में गणिकाओं को केवल उदार ही नहीं बताया गया है, अपितु उन्हें आदर की दृष्टि से भी देखा गया है।[34] गणिकाएँ अनेक कलाओं में निपुण होती थीं। बृहत्कल्पभाष्य में चौंसठ कलाओं में पूर्ण एक गणिका का उल्लेख किया गया है।

जैन और बौद्धकाल में गणिकाएँ नगर की शोभा मानी जाती थीं। राजा उन्हें अपनी राजधानी का रत्न समझता था।[35] कंकाली टीले से प्राप्त एक कुषाणकालीन जैन आयागपट्ट के लेख से विदित होता है कि गणिका लवण शोभिका की पुत्री वसु ने यह आयागपट्ट दान में दिया था।[36] इस आयागपट्ट पर सम्पूर्ण स्तूप की आकृति निर्मित है।

इस प्रकार गणिकायें भी जैन धर्म के प्रति आदर भाव रखती थीं और दान, धर्मादि कार्यों को करने में महत्वपूर्ण योगदान देती थीं।

अधिकांश चरण-चौकी पर उत्कीर्ण लेखों से विदित होता है कि सर्वाधिक प्रतिमा दान एवं आयागपट्ट दान श्राविकाओं ने दिया था। इस पर माता, दादी, पत्नी, पुत्री, सास, बहू, पौत्री आदि के रूप में वर्णित है। समाज के प्रत्येक वर्ग द्वारा किया गया जैन धार्मिक कार्य प्रशंसनीय है।

समाज में साध्वी स्त्रियों का उल्लेख भी हुआ है। यद्यपि उनका जीवन कठोर था और मुनियों की अपेक्षा उन्हें अधिक अनुशासित जीवन व्यतीत करना पड़ता था।[37]

विदेशी स्त्रियों ने भी अर्हंतपूजा के प्रति श्रद्धा प्रकट की। कुषाणकालीन कंकाली टीले से प्राप्त एक तीर्थंकर प्रतिमा पर तीन लम्बी और तीखे नाक-नक्श वाली स्त्रियों का अंकन किया गया है। इस पर गान्धार कला का प्रभाव दृष्टव्य है। तीनों महिलाएं साड़ी पहने हुए हैं जिसमें विदेशी प्रभाव परिलक्षित होता है।[38]

महावीर स्वामी ने सभी प्राणियों के प्रति दया दिखाई तथा उनके धर्म का द्वार सभी वर्ग एवं व्यवसाय के लिए खुला था। जैन धर्म के प्रमुख

सिद्धान्तों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा क्षमा, मृदुता आदि में अहिंसा सर्वोपरि है।

जैन धर्म में अनेक प्रकार के व्रतों और उपवासों, भावनाओं और तपस्याओं, ध्यानों और योगों का उद्देश्य आत्मवृत्ति प्राप्त करना।[39]

तीर्थंकरों और आचार्यों ने इस वृत्ति को जीवन में स्थापित करने के लिए जो उपदेश दिया वह अनेक जैन ग्रन्थों में वर्णित है। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश प्राकृत एवं संस्कृत में जैन धर्म का विपुल साहित्य सुरक्षित है जो अपनी भाषा, विषय, शैली व सजावट के गुणों द्वारा अपना विशिष्ट स्थान रखता है।[40] इनका अद्वितीय महत्वपूर्ण स्थान है। शूरसेन जनपद में सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रमुख साक्ष्य साहित्यिक ग्रन्थ ही हैं।

जैन धर्म के आगमों का प्रामाणिक पाठ निश्चित करने के लिए चौथी शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शूरसेन जनपद में एक धर्म परिषद का आयोजन किया गया। उसमें जो पाठ निश्चित किए गए उसे जैन धर्म में 'माथुरी वाचना'[41] के नाम से जाना जाता है क्योंकि सभा शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा में बुलायी गई थी।

कंकाली टीले के उत्खनन से एक मात्र सरस्वती की कुषाणकालीन प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह सर्वाधिक प्राचीन अभिलिखित प्रतिमा है। प्रतिमा के दोनों कलाइयों में कंगन जैसे आभूषण उत्कीर्ण है, जिससे स्त्रियों का आभूषण के प्रति प्रेम प्रकट होता है।[42]

मथुरा कला शैली के कलाकारों ने पुस्तकधारिणी इस सरस्वती प्रतिमा का निर्माण कर जैनागमों को लिपिबद्ध कराने के आन्दोलन को महत्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान की।

सर्वप्रथम प्रतिमाओं में श्रीवत्स लांछन का निर्माण मथुरा कला शैली के अन्तर्गत प्रारम्भ हुआ। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के भगवान श्री कृष्ण एवं बलराम का अंकन शूरसेन जनपद की मूर्तियों में दृष्टिगोचर होता है।[43]

शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति के अन्तर्गत प्रतिमाकला का प्रारम्भ मथुरा कला शैली के द्वारा ही प्रारम्भ हुआ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

शूरसेन जनपद में जैन तीर्थंकरों की जीवन गाथाओं से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण कलाकृतियों कंकाली टीले से प्राप्त हुई हैं। जिनों के जीवन से सम्बन्धित कलावशेष अन्यत्र दुर्लभ हैं।

शुंगकालीन प्रथम कलाकृति में प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की सभा में नीलान्जना अप्सरा के नृत्य का दृश्यपट्ट है।[44] इस दृष्यपट्ट से यह स्पष्ट होता है कि शूरसेन जनपद में नृत्यकला अपनी विकसित अवस्था में थी। गीत एवं नृत्य का एकमात्र यह प्रस्तर पट्ट तत्कालीन जैन संस्कृति का बोध कराते हैं।

अप्सरा के नृत्य पट्ट का कंकाली टीले से प्राप्त होने के कारण यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मथुरा कला शैली के शिल्पकारों ने जैन तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को उत्कीर्ण करने का कार्य सबसे पहले प्रारम्भ किया।

एक अन्य कुषाणकालीन कृति चौबीसवें जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की जीवन से सम्बन्धित है।[45] इस अमूल्य प्रस्तर कलाकृति में भगवान महावीर के भ्रूण को क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित करने की गाथा को उत्कीर्ण किया गया है।

इस प्रस्तर कथा से यह विदित होता है कि शूरसेन जनपद के प्राचीन चिकित्सक गर्भ-स्थानान्तरण की अत्यन्त जटिल शल्य-क्रिया में निपुण थे।[46]

शूरसेन जनपद के जैन मुनियों ने जैन धर्म को न केवल वर्ण, जाति, लिंग आदि के भेदभाव से मुक्त रखा और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और विभिन्न व्यवसायों को करने वाले उच्च जातीय, नीच जातीय, विविध वर्गीय, देशी-विदेशी, स्त्री-पुरुष, सभी को समान अधिकारों के साथ स्वधर्म में दीक्षित किया, वरन अपनी धर्माश्रित कला को भी विविध प्रकारों एवं रूपों में अत्यन्त उदारता के साथ पल्लवित किया।

भारत देश में लेखन प्रवृत्ति को लोकप्रिय एवं जनप्रिय बनाने वाले लोग शूरसेन जनपद के जैन मुनि ही थे और इस काल की शूरसेन जनपद में ही सर्वप्रथम एक सुगठित जैन मुनि संघ के साथ-साथ एक सुव्यवस्थित एवं विशाल जैन साध्वी संघ के भी दर्शन होते हैं।

प्राचीन काल से लेखन कला का ज्ञान प्रारम्भ हो चुका था।[47] लेखन कलाओं को बहत्तर कलाओं में भी उल्लिखित किया गया है।[48] सार्थवाह के लोग भी अपनी यात्रा के समय शिला पर मार्ग-सूचक चिन्ह बनाते थे, जिससे यात्रियों के आने-जाने में सुविधा हो।[49]

लिपियों के क्रम में सर्वप्रथम ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का उल्लेख मिलता है।[50] ब्राह्मी लिपि बायें से दायें और खरोष्ठी लिपि दायें से बायें की ओर लिखी जाती थी। खरोष्ठी लिपि प्राचीन भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में प्रचलित थी और गान्धार की स्थानीय लिपि के रूप में विख्यात थी।[51]

ब्राह्मीलिपि में जैन अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं। ब्राह्मी के परिणामस्वरूप देवनागरी वर्णमाला का विकास हुआ।

भगवान महावीर ने अर्द्धमागधी भाषा में अपने प्रवचन का उपदेश दिया था।[52] सभी पर इस भाषा का प्रभाव पड़ा तथा[53] यह भाषा के साथ-साथ पशु-पक्षियों तक की समझ में आ सकती थी।[54]

इससे सिद्ध होता है कि जैसे बौद्धों ने मागधी भाषा को सब भाषाओं का मूल माना है, वैसे ही जैनों ने अर्धमागधी को आर्य भाषा का मूल स्वीकार किया। जैन आगमों की भाषा भी अर्धमागधी है।[55]

'भरतमुनि' ने मागधी, अवन्ती, प्राच्य, शैरसेनी, ब्राह्लीका और दाक्षिणत्य के साथ-साथ अर्धमागधी को सात प्राचीन भाषाओं में उल्लिखित किया है।[56] आचार्य हेमचन्द्र ने जैन आगमों के प्राचीन सूत्रों की भाषा अर्धमागधी बतायी है। उन्होंने प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं का भी उल्लेख किया है।[57]

हरिभद्र सूरि ने जैनागमों की भाषा को अर्धमागधी न कहकर प्राकृत कहा है।[58] 'मार्कण्डेय' के मतानुसार शौरसेनी के समीप होने से मागधी को ही अर्धमागधी कहा जाता है।[59]

जैन संस्कृति निवृत्ति मूलक पुरुषार्थ प्रधान व्यक्तिवादी धर्म पर आधारित है। जैन संस्कृति वस्तु की स्वतंत्रता, आत्मा की स्वतंत्रता एवं स्वावलम्बन पर विश्वास करती है। यह गुण प्रधान संस्कृति है जिसमें उच्च आचरण एवं संस्कार व्यक्ति को श्रेष्ठता प्रदान करते हैं।

जैन संस्कृति की मान्यता है कि विश्व अनादि और अनन्त है। जैन संस्कृति एवं आचार का मूल आधार अंहिसा, दया, अपरिग्रह अनेकान्त एवं समता भाव है।

शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति के अन्तर्गत आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजन का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शूरसेन जनपद के निवासी अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद और मनोरंजन किया करते थे। उत्सव, यज्ञ, पर्व, गोष्ठी आदि ऐसे त्यौहार मिल जुलकर मनाते थे।[60]

सदैव ही मनोरंजन का जीवन में महत्व रहा है। ''ज्ञातधर्मथांग' से ज्ञात होता है कि प्रजा के मनोरंजन के लिए राज्य की ओर से उचित प्रबंध किये जाते थे।[61]

औपपातिक और राजप्रश्नीय आदि जैन ग्रन्थों से यक्षायतनों का अस्तित्व ज्ञात होता है जिनका स्वरूप वर्तमान मनोरंजन गृहों के समान था। अवकाश के समय लोग यहाँ एकत्र होकर नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध, कथा, कहानी, बाजीगरों तथा जादूगरों के विविध खेल-तमाशों का आनन्द उठाते थे।[62]

वासुदेवहिण्डी से यह विदित होता है कि गाँव के बाहर ऐन्द्रजालिका जादू का खेल दिखाया जाता था।[63]

जातक कथाओं में मनोरंजन के लिए सांप का खेल दिखाकर आजीविका अर्जित करने वाले सपेरों का उल्लेख किया गया है।[64] मानव सदैव से उत्सवप्रिय रहा है। उत्सव के अवसर पर स्त्री-पुरुष, बालक,

वृद्ध, युवा सभी आभूषणों से सज्जित होकर नाचते, गाते, बजाते, भोजन-पान करते आनन्दमग्न होते थे।[65]

मनोरंजन के लिए पशु-पक्षियों को आपस में लड़ाना भी प्रसिद्ध है। जैन ग्रन्थों में महषि-युद्ध, कुक्कुट-युद्ध और मयूर-युद्ध का उल्लेख किया गया है। राजाओं के व्यस्त जीवन में आखेट मनोरंजन का प्रमुख साधन था।[66]

'ज्ञातधर्मकथांग' से यह विदित होता है कि गणिकाएँ भी तत्कालीन समाज का मनोरंजन करती थीं।[67]

जैन स्तम्भों पर भी मनोविनोद के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। मथुरा कला शैली में पक्षियों के साथ क्रीडा करने के अनेक दृश्य उपलब्ध हुए हैं। फूल चुनने और गेंद खेलने के भी कई मनोरम दृश्य शूरसेन जनपद के केन्द्रों से प्राप्त वेदिका स्तम्भों पर देखे जा सकते हैं। कंकाली टीले से प्राप्त स्तम्भों पर इस प्रकार के कथात्मक मनोरंजन का अंकन बहुलता से प्राप्त हुआ है।[68]

प्रकृति के साथ मानव जीवन का घनिष्ठतम् सम्बन्ध रहा है।

इसका उदाहरण साहित्य में नहीं अपितु कला में भी लता-वृक्षों, पशु-पक्षियों, नदी-सरोवरों आदि के साथ लोक जीवन का गहरा सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकृति सम्बन्ध ने अनेक उत्सवों को जन्म दिया, जिनमें एक शालभंजिका का उत्सव था।

शालभंजिका उत्सव के दिन नवोढ़ा या अन्य युवती जिसके पैर महावर से रंगे हुये तथा आभूषणों से सुसज्जित होकर अशोक वृक्ष के निकट जाती थी। एक हाथ से वह वृक्ष की डाल पकड़ती और फिर पैर का कोमल आघात करती थी। इस उत्सव को 'अशोक दोहद' भी कहते है।[69] अर्थात् इस उत्सव का यह अभिप्राय था कि युवती के चरणों के आघात से अशोक का पेड़ पुष्पित हो जाता था।

इस उत्सव में भाग लेने वाली स्त्री को 'शालभंजिका' की संज्ञा दी गयी। उद्यानों के अतिरिक्त मन्दिरों और स्तूपों में राजा के घरों में भी

श्रृंगार और अलंकरण के रूप में शालभंजिका प्रतिमाओं का अंकन होने लगा।[70]

शूरसेन जनपद की शालभंजिका प्रतिमाएँ कला की अमर कृतियाँ हैं। इनमें अशोक, चम्पक, नाग केसर कदम्ब आदि वृक्षों के सहारे खड़ी हुई युवतियों के अंग-विन्यासों का मनोहर चित्रण मिलता है।

जैनग्रन्थों 'रायपसेणियसूत्र' में विमान के आलंकारिक वर्णन के प्रसंग में अनेक स्थलों पर शालभंजिका मूर्तियों का उल्लेख किया गया है। ये मूर्तियों बड़े ही कलात्मक ढंग से निर्मित की गई है।

शूरसेन जनपद से प्राप्त वेदिका स्तम्भों पर स्नान और प्रसाधन के अनेक दृश्य अंकित हैं।

शूरसेन जनपद के निवासी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे। समाज में सभी वर्ग के स्त्री-पुरुष स्वयं को आभूषणों से अलंकृत करते थे। आभूषण सोने, चाँदी, मणि-मुक्ताओं और रत्नों आदि से निर्मित होते थे।[71] स्त्रियाँ हार, कुण्डल, कड़े, अंगूठियाँ, कमरबन्ध, पैरों में नूपुर पहनती थीं।[72]

स्त्रियाँ रंग-बिरंगी सुन्दर मालाएँ धारण करती थीं।[73]

तत्कालीन पुरातात्विक अवशेषों के अनुशीलन से विदित होता है कि विद्याधरों का स्थान महत्वपूर्ण था। विद्याधरों को आकाशगामी भी कहा गया है। वे अपनी इच्छानुसार निर्मित श्रेष्ठ विमानों में यात्रा किया करते थे।[74] उन्हें जैन धर्म में भक्तों के रूप में चित्रित किया गया है। विद्याधर अनेक कलाओं का प्रयोग करने में निपुण थे। कंकाली टीले से प्राप्त अनेक कलाकृतियों में उड़ते हुए विद्याधरों का सजीव अंकन किया गया है।

शूरसेन जनपद में जिस संस्कृति का दर्शन होता है वही संस्कृति सम्पूर्ण उत्तर-भारत अथवा सम्पूर्ण भारत में विद्यमान थी।

जैन धर्म में अन्तिम संस्कार करने की विधि के विषय में उल्लिखित है कि मृतक का अन्तिम संस्कार करने के पश्चात् उसके ऊपर चैत्य और

स्तूप का निर्माण करने का प्रचलन था। मृत्यु के पश्चात् शव को चन्दन, अगरू, तुरूक्क, घी और मधु डालकर जलाया जाता था।

शरीर के जल जाने के पश्चात् अस्थियों को एकत्र कर उन पर स्तूप की संरचना की जाती थी। प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों पर[75] चैत्य-स्तूप का निर्माण किया गया। इस समय से भस्म को एकत्र कर उसके ऊपर स्मारकों का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

शूरसेन जनपद में अन्तिम केवलि जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में चौरासी क्षेत्र में स्तूप निर्मित कराये जाने का उल्लेख है।

मृतक-पूजन का भी उल्लेख मिलता है कि मृत्यु के पश्चात् शव का पूजन करने के पश्चात् दाह संस्कार किया जाता था।[76]

अनाथ मृतक जिसका कोई उत्तरदायी नहीं होता था, उसकी अस्थियों को कलश में रखकर गंगा जी में प्रवाहित कर दिया जाता था।[77] कभी-कभी शव को पशु-पक्षियों के भक्षण के लिए जंगल में भी छोड़ दिया जाता था। परन्तु यह क्रिया-विधि अधिक प्रचलित नहीं थी।[78]

जैन मुनि के शरीरान्त होने पर उसकी नीहरण क्रिया की विस्तृत विधि का उल्लेख मिलता है।[79]

मृतक संस्कार से यह विदित होता है कि मनुष्य का अन्तिम समय एक समान होते हुए भी अन्तिम संस्कार में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति का विकास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। संस्कृति सीमित नहीं होती है अतः संस्कृति पर देश-काल एवं परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है जैन संस्कृति का हृदय विशाल है। जैन संस्कृति की आत्मा में भारतीय एवं जन संस्कृति का दर्शन होता है।

बड़े-बड़े झंझावतों के बावजूद जैन संस्कृति की धारा शूरसेन जनपद की धरती से लुप्त नहीं हुई। मृत्यु ही हारती है, विजय सदा जीवन की

होती है। जैन संस्कृति का स्वभाव भी ऐसा ही लचीला है। विदेशी आक्रान्ताओं ने भी उसे दबा तो लिया परन्तु निष्प्राण नहीं कर पाये। आक्रमणकारियों ने मंदिरों और प्रतिमाओं का विनाश किया परन्तु जैन संस्कृति जन संस्कृति बनकर लोगों के हृदय में पल्लवित होती रही।

शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति ने समाज, धर्म, व्यापार, कला, आचरण, समृद्धि, साहित्य और लोक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया जैन संस्कृति का अनेकानेक सुख-समृद्धि के उदाहरण शूरसेन जनपद से प्राप्त पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों में बहुलता से दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृति एक प्रवाहमान सरिता के समान हैं। श्रमण संस्कृति शताब्दियों से अपनी एक विशिष्ट पहचान के साथ प्रवाहित हो रही है। यह निरन्तर गतिमान संस्कृति है। जैन संस्कृति शूरसेन जनपद में अपनी दीर्घ यात्रा में अनेक अन्य संस्कृतियों को प्रभावित किया एवं स्वयं भी प्रभावित हुई परन्तु सदैव गतिशील बनी रही।

जिस प्रकार इलाहाबाद विभिन्न नदियों का संगम स्थल है उसी प्रकार शूरसेन विभिन्न संस्कृतियों का मिलन स्थल है। यहाँ धर्मों एवं संस्कृतियों की एकता शताब्दियों पूर्व से चलती आ रही है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भानावत, नरेन्द्र; जैन धर्म का सांस्कृतिक मूल्याँकन, पृ. 155
2. जैन, प्रेम सुमन; जैन धर्म की सांस्कृतिक विरासत, पृ. 3
3. त्रिपाठी, राममूर्ति; जैन संस्कृति की विशेषताएँ, पृ. 144 कर्मयोगी श्री केसरीमल जी सुराणा-अभिनन्दन ग्रन्थ।
4. जैन, हीरालाल; पू.नि., पृ. 144
5. त्रिपाठी, राममूर्ति; पू.नि., पृ. 144
6. जैन, हीरालाल; पू.नि., पृ. 376

7. हरिवंश पुराण, 1137/2; तिलोयपण्णति, 547

8. जैन, बलभद्र; उत्तर प्रदेश के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग-1, पृ. 66

9. जैन, अनेकान्त कुमार; राग को भी हिसा मानते थे महावीर; दैनिक जागरण, 11 अप्रेल, 2006

10. विवाग सूय, 6; नागार्च, बिहारी लाल; शूरसेन जनपद की जैन विरासत, पृ. 98, ऋषभ सौरभ, दिल्ली 1998

11. यादव; झिनकू, जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ. 44

12. यादव; झिनकू, पू. नि., पृ. 44

13. यादव; झिनकू, पू.नि., पृ. 44, 45

14. नागार्च, बिहारी लाल; पू.नि., पृ. 97

15. नागार्च, बिहारी लाल; पू.नि., पृ. 98

16. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 22, जे. 45, जे. 49, जे. 61

17. पद्यचरितम्, 2, 24, 31

18. चन्द्र मोती; पू.नि., पृ. 16

19. विनयपिटक, 3, 2

20. चन्द्र मोती; पू.नि., पृ. 25; लाहा, बी.सी.; प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ. 67

21. दिग्विजयपर्व, 2/28/11,2/28/39

22. रायचौधरी, एच.सी.; पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 81 (षष्टम् संस्करण)

23. दिव्यावदान, 26, 353

24. जातक, 3.447, मोतीचन्द्र, पू.नि., पृ. 3; पॉल, आर.के., साउथ पांचाल, पृ. 99

25. पद्यचरितम् 2, 24, 31

26. जैन, जगदीशचन्द्र; जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 1
27. जैन, जगदीशचन्द्र; भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ. 45
28. आचारांग सूत्र; 2, 1, 4, 47, 48
29. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 255
30. शाह, यू.पी.; स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 79
31. रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार; लेख, "नमो अरहतान – अर्हतोपूजाये" पृ. 78, मणिभद्र श्री आत्मानन्द सभाभवन, जयपुर, 1982
32. वैदिक इण्डेक्स, 1, पृ. 457
33. याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका, पृ. 287
34. पेन्जर; कथासरित्सागर 1, एपेंडिक्स 4, पृ. 138
35. उत्तराध्ययनटीका 3, पृ. 64
36. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या क्यू. 2
37. अन्तःकृदशा 6, पृ. 33
38. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 20
39. जैन, हीरालाल; पू.नि. 376
40. जैन, हीरालाल; पू.नि., 376
41. श्री निवासन, डी.एम.; मथुरा–दि कल्चरल हेरिटेज, पृ. 210, देव, एस. बी.; हिस्ट्री ऑव जैन मोनैकिज्म, पृ. 20
42. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 24
43. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 77; राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 34.2488
44. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 354
45. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 626
46. मीत्तल, प्रभुदयाल; ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 134

47. ओझा, गौरीशंकर; भारतीय लिपिमाला, पृ. 2
48. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 3.54; रीजडेविड्स; बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 108
49. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका 195; निशीथचूर्णी 5, पृ. 361
50. ललित विस्तार, पृ. 126
51. पुण्यविजय; भारतीय जैन श्रमण संस्कृति लेखनकला, पृ. 8
52. समवायांग, पृ. 57; औपपातिक सूत्र 34, पृ. 146
53. आचारांग चूर्णी, पृ. 255
54. समवायांग, पृ. 57
55. अलंकारतिलक 1.1
56. भरतमूनि; नाट्यशास्त्र, 17.48
57. प्राकृत व्याकरण, 8.4.287
58. दशवैकालिकवृत्ति, पृ. 203
59. प्राकृत प्रकाश 12.38
60. बृहत्कल्पभाष्य, पृ. 644
61. ज्ञातधर्मकथांग, 1/76, कल्पसूत्र, 98
62. औपपातिक सूत्र; राजप्रश्नीय सूत्र 2
63. वसुदेवहिण्डी, भाग-1, पृ. 195
64. जातक कथा, 5/45
65. ज्ञातधर्मकथांग, 1/76
66. ज्ञातधर्मकथांग, 3/5
67. ज्ञातधर्मकथांग, 3/5
68. वाजपेयी, कृष्णदत्त; मथुरा के जैन बेदिका-स्तम्भ, पृ. 44, 45; भास्कर जैन सिद्धान्त, भाग-2, आरा जून 1953

69. श्रीवास्तव, ए.एल.; भारतीय कला प्रतीक, पृ. 78, वाजपेयी, कृष्णदत्त; पू.नि., पृ. 44, 45

70. वाजपेयी, कृष्णदत्त, पू.नि., पृ. 44, 45

71. आचारांग; 2.2, 1, 70

72. भगवतीसूत्र, 9, 3, 33

73. निशीथचूर्णि, भाग-2, गाथा 2287

74. वायु पुराण, 69; मार्कण्डेय पुराण, पृ. 401-4

75. आवश्यक चूर्णी, पृ. 222-24

76. आवश्यक भाष्य, 26, 27; आवश्यकचूर्णी, पृ. 157

77. वृहत्कल्पभाष्यटीका, 4.5215

78. महानिशीथ, पृ. 25, ललित विस्तर, पृ. 265

79. बृहत्कल्पसूत्र, 4.29

अध्याय सप्तम्

शूरसेन जनपद में जैनधर्म का योगदान : भाषा, साहित्य, दर्शन एवं ललितकला

शूरसेन जनपद में जैन धर्म का योगदान विभिन्न क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होता है। भारत का प्राचीन इतिहास धार्मिक सहिष्णुता से पूर्ण था। अनेक भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से यह देश संगठित था। एक सर्वहित लोकोपकारी संस्कृति के निर्माण में भारतीय धार्मिक सामाजिक प्रणेताओं तथा आचार्यों का अभूतपर्व योगदान रहा है।

जैन धर्म के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी थे। महावीर स्वामी तथा उनके पहले के अनेक तीर्थंकर की जन्म भूमि तथा कार्य क्षेत्र होने का गौरव बिहार के मगध प्रदेश को प्राप्त हुआ। वैदिक धर्म की मान्यताओं के प्रति अनास्था का बीजारोपण भारत में मुख्यतः मगध में प्रारम्भ हुआ। उस क्षेत्र में जैन, बौद्ध, आजीविक आदि अनेक सम्प्रदायों का उदय तथा विकास हुआ। पाटलिपुत्र, राजगृह तथा उसके आस-पास का भू-भाग इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।[1]

धीरे-धीरे जैन तथा बौद्ध विचार धाराओं ने सुसंगठित धर्मों का रूप प्राप्त कर लिया तथा उनका व्यापक प्रसार मगध से बाहर शूरसेन कलिंग श्रवणवेलगोला, तक्षशिला, देवगढ़, वाराणसी और विदिशा आदि स्थानों पर हुआ।

शूरसेन जनपद की संस्कृति एक समुद्र के समान है, जिसमें विभिन्न जातियों, वर्गों, एवं समुदायों की मान्यताएं एवं विश्वास हैं।

भारतीय इतिहास पर विंहगम दृष्टि डाले तो यह स्पष्ट होता है कि धरती ने अपनी सहिष्णुता सुगन्धि में आक्रामक समुदायों तक को आप्लावित कर उन्हें भारतीय बना दिया। आर्येतर सभ्यता के अवशेष हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, कालीबंगा, रंगपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनसे पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं में पारस्परिक सम्बन्धों का सहज ज्ञान होता है।

वैदिक साहित्य में आर्येतर जातियों की धार्मिक-सामाजिक मान्यताएँ ज्ञात हुई है। उनके कतिपय आचार-विचार को आत्मसात कर आर्यों ने अपनी सहिष्णुता की प्रकृति का परिचय दिया।

जैन परम्परा में सभी तीर्थंकर भगवानों को गंगा-यमुना प्रदेश तथा सूर्य, चन्द्रवंशी होने का उल्लेख किया गया है। मनीषी संस्कृति निर्माताओं ने देश के विभिन्न भागों में विचरण करके जीवन का सन्देश प्रसारित किया।

सत्य, अहिंसा, त्याग तथा परोपकार के प्रति पूर्ण आस्था रखने वाले जैन मुनियों का जीवन आदर्शमय था। जनसाधारण उनके प्रति अपार श्रद्धा का भाव रखती थी तथा उनसे उत्तम व्यवहार की शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए तत्पर रहती थी। जैन मुनियों का अधिकतम समय अध्ययन, मनन तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य करने में व्यतीत होता था, जिससे समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठ सके।

मुनि संघ जनसामान्य के निकट आने का प्रयत्न करते थे। जैन मुनि क्षेत्रीय भाषाओं में अपने प्रवचन एवं उपदेश प्रदान करते थे। फलस्वरूप स्थानीय भाषाओं के स्तर को गरिमा प्राप्त हुई।

समय-समय पर शूरसेन जनपद में शासकों का सहयोग जैन धर्म को प्राप्त होता रहा। शासकों के साथ व्यवसायियों तथा व्यापारियों ने जैन धर्म एवं संस्कृति के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की। शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थी। जहाँ पर विदेशी व्यापारी भी आते थे। राजाओं तथा

व्यापारियों के आर्थिक सहयोग से जैन मुनियों ने समाज के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। कुषाण शासकों ने तो जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म पल्लवित एवं पुष्पित होता रहा तथा शताब्दियों तक यह जनपद जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा।

बी.ए. सैलेतोर की यह मान्यता युक्ति संगत है कि जब भी जैन धर्म के अनुयायी शासकों का शासन रहा, उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों को किसी भी प्रकार उत्पीड़ित नहीं किया। उनके राज्यकाल में अधिक युद्ध भी नहीं हुए, क्योंकि वे अहिंसा प्रेमी होते थे। शासक वर्ग अपने व्यावहारिक कार्यों में भी धार्मिक गुरूओं का परामर्श प्राप्त करते थे, जो अहिंसा के पुजारी थे। जैन मुनि सभी धर्मों को एक समान मानते थे तथा बलपूर्वक धर्म परिवर्तन को असंगत मानते थे।[2]

भाषा तथा साहित्य के इतिहास में जैन धर्म का उल्लेखनीय योगदान रहा है। शूरसेन जनपद की उपलब्धियों से भारतीय साहित्य समृद्ध हुआ। समय की गति के अनुसार जैन आचार्यों, साहित्यकारों एवं कलामर्मज्ञों ने भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में उच्चकोटि के साहित्य का प्रणयन कर भारतीय साहित्य के संवर्द्धन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

भगवान महावीर ने उस युग की लोकभाषा अर्द्धमागधी में अपने धर्म-उपदेश द्वारा विश्व मानवता के कल्याण को नई दिशा प्रदान की, उसकी उपादेयता आज के सन्दर्भ में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

नेमिचन्द्र शास्त्री[3] के मतानुसार मनुष्य की भाषा सृष्टि के आरम्भ से ही निरन्तर प्रवाह रूप में चली आ रही है, पर इस प्रवाह के आदि और अन्त का पता नहीं है। नदी की वेगवती धारा के समान भाषा का वेग अनियन्त्रित रहता है। भौगोलिक परिस्थितियों का आधार पाकर मूल भाषा विकास और विस्तार को प्राप्त करती गई। इस प्रकार विकास और विस्तार करते-करते एक से अनेक भाषाएं बनती गई, जिनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनमें पूर्णतः भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

शूरसेन जनपद की साहित्यिक उपलब्धियों से भारतीय साहित्य समृद्ध हुआ। जैन आचार्य अपने आप में एक सम्पूर्ण संस्था थे। उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थीं और उनका पूरा समय अध्ययन-अध्यापन, लेखन तथा धर्म प्रचार में व्यतीत होता था।[4]

जैन आचार्य किसी विशिष्ट भाषा के प्रति पक्षपात नहीं रखते थे। उन्होंने देववाणी की उत्कृष्ठता पर बल नहीं दिया। उनके लिए सभी भाषाएं समान थीं। उन्होंने जनभाषाओं को समृद्ध किया। लोक-भाषा और साहित्य के प्रति जैन धर्मानुयायियों का सदैव आदर भाव रहा है।[5] फलस्वरूप लोक भाषाओं में उपदेश एवं साहित्य-सृजन की परम्परा निरन्तर विद्यमान रही है।

जैन आचार्यों और लेखकों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, तेलगू, मराठी और गुजराती आदि भाषाओं को अपने लेखन के द्वारा समृद्धि प्रदान की। उन्हें सशक्त लोकभाषाओं के रूप में साहित्य-सृजन के योग्य बनाया फलस्वरूप जैन धर्म एवं साहित्य जन साधारण तक पहुँच सका। अशोक, खारवेल, सातवाहन तथा कुषाण आदि राजाओं ने भी जनभाषाओं का महत्व स्वीकार किया और उन्हें शासन तन्त्र में प्रमुख स्थान दिया।[6]

जैन आचार्यों ने सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर साहित्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया। भारत के राजनीतिक इतिहास एवं संस्कृति के सम्बन्ध में जैन साहित्य से महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश प्राप्त होते हैं। जैनाचार्यों का साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

महावीर युगीन तथा परवर्ती इतिहास का विस्तृत चित्रण जैन स्रोतों से ज्ञात तथ्यों के आंकलन द्वारा मगध, शूरसेन, अवन्ति, वैशाली, वत्स आदि जनपदों का महत्व सहजता से ज्ञात होता है।[7]

जैन आचार्य परम्परा से सम्बन्धित ग्रन्थ, पत्र-प्रज्ञप्ति, पट्टावलियाँ इतिहास निर्माण में बहुत सहायक एवं उपयोगी सिद्ध हुई है। जैन स्रोतों

से यह महत्वपूर्ण जानकरी प्राप्त होती है कि राजा, युवराज, सेनापति और मन्त्री आदि का शासनतन्त्र में विशेष महत्वपूर्ण स्थान था।

शूरसेन जनपद में शौरसेनी के साथ-साथ मागधी, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं का प्रचलन था। इसी प्रकार मागधी और अर्द्धमागधी मगध की प्रमुख भाषा थी। शौरसेनी का घनिष्ठ सम्बन्ध 'मध्यदेश' से था, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है, और यह संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति का केन्द्र माना जाता है। इसी प्रकार मागधी और अर्धमागधी की भाँति शौरसेनी का जन्म भी प्राचीन भारतीय भाषाओं से हुआ है। महाराष्ट्री इसके बाद आती है।[8]

दिगम्बर जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है, अपितु श्वतोम्बर जैन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी हैं। शूरसेन आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में शौरसेनी की प्रमुखता परिलक्षित होती है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की भाषाओं में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अर्द्धमागधी में रचित आगमों में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है।

पिशल ने दिगम्बर आगम ग्रन्थों की शौरसेनी को जैन शौरसेनी का नाम दिया है। उनके मतानुसार बोलियों में जो बोलचाल की भाषाएं व्यवहार में प्रयोग की जाती हैं उनमें शौरसेनी का स्थान सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण है।[9]

अंग ग्रन्थों को दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान स्थान प्राप्त है।[10] द्वाद्वशांग ग्रन्थों में ग्यारह अंगग्रन्थ पहले लिखे गये हैं और इन ग्यारह अंग-ग्रन्थों की भाषा आर्ष-वचन तथा अर्द्धमागधी है। यह भाषा सभी जन सामान्य के लिए सहज तथा सरल थी और इसे सम्पूर्ण भाषाओं की जननी भी स्वीकार किया गया है।[11]

आगम साहित्य दो प्राकृत भाषाओं में दृष्टव्य होते हैं- अर्द्धमागधी और शौरसेनी। ग्यारह अंग?, बारह उपांग, छः छन्दसूत्र, चार मूलसूत्र,

दस प्रकीर्णक और दो चूलिका सूत्रों की भाषा अर्द्धमागधी है तथा षड्खण्डागम सूत्र और कसायपाहुड की भाषा शौरसेनी। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त, कर्म और आचार विषयक अनेक ग्रन्थ शौरसेनी भाषा में परिलक्षित है। अर्द्धमागधी आगम साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका विवरण, विवृत्ति, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णी, व्याख्या आदि रूप में असंख्य साहित्य का सृजन हुआ है।[12]

ई. पू. छठी शताब्दी में महावीर एवं बुद्ध के धर्मोपदेश के फलस्वरूप प्राकृत साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। विभिन्न विधाओं का प्राकृत भाषा में सृजन हुआ, जिसमें आगम, शिलालेख, महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, मुक्तक काव्य एवं कथा प्रमुख हैं। आगम ग्रन्थों पर टीकाएं भी लिखी गई है।

आगम ग्रन्थों में शील, सदाचार, विचार-समन्वय, सृष्टि, कर्म संस्कार सम्बन्धी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। सिद्धान्त साहित्य में गुण स्थान और मार्ग तथा कर्म साहित्य में कर्म स्वरूप और उसके फल देने की प्रक्रिया का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। आचार विषयक साहित्य में अहिंसामूलक व्यवहार को स्थिर रखने का उपदेश समाहित है।[13]

शूरसेन जनपद में शौरसेनी भाषा में आगमों का संकलन किया गया। भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में इस जनपद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समुदाय का क्षेत्र विस्तार होने पर क्षेत्रीय आधार पर विभिन्न विशेषताएं उत्पन्न हुई। भाषा वैज्ञानिकों ने क्षेत्रीय आधार पर मुख्यतः पाँच भागों में विभक्त किया है- शौरसेनी, मागधी अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री और पैशाची। जैन मतावलम्बियों ने अपने धर्म एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार करने के लिए प्राकृतभाषा को माध्यम बनाया।[14]

जैनाचार्यों ने ही आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन किया। प्रत्येक भाषा को जैन विद्वानों ने अपनी साहित्यिक रचना से समृद्ध किया।[15]

दो हजार वर्ष पूर्व शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा का 'सरस्वती आन्दोलन' विश्व इतिहास की एक ऐसी अद्भुत घटना है जिसका अन्यत्र उदाहरण दुर्लभ है।

श्रुतज्ञान की धारा बनाए रखने, उसके संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार के प्रति आचार्यों, विद्वानों एवं विशाल जन-समुदाय की जागरूकता, प्रगतिशीलता समर्पण एवं आस्था का प्रतीक यह आन्दोलन था। इस आन्दोलन ने इस श्रुत सम्पदा की रक्षा के लिए एक क्रान्ति की और इसका जीवन्त उदाहरण जिनवाणी, श्रुतदेवी की कुषाण कालीन अभिलिखित सरस्वती देवी की कंकाली टीले से प्राप्त प्रतिमा है।[16] ज्ञान की देवी सरस्वती की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करके आन्दोलन की अधिष्ठात्री बनाया गया।

शिलालेख एवं तिथि सहित प्राचीन भारत की सर्वाधिक प्राचीन सरस्वती प्रतिमा का निर्माण एवं प्रतिष्ठा करने का श्रेय शूरसेन जनपद को ही प्राप्त है।

इसके पूर्व जैन आगम न तो संकलित थे और न ही सुरक्षित थे। श्रुतावतरण के समय भी गौतम आदि गणधर देवों द्वारा श्रुत गुम्फन के बावजूद इन्हें लिपिबद्ध करने की अपेक्षा पूर्व परम्परा के अनुसार इस श्रुत सम्पदा को 'गुरू-शिष्य' परम्परा विधि द्वारा कण्ठस्थ विधि से इसे धारण करते हुए अगले छह सौ वर्षों तक संरक्षित रखने का पूरा प्रयास किया गया।[17]

शूरसेन जनपद का यह महत्वपूर्ण योगदान है कि सरस्वती प्रतिमा की स्थापना सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में हुई तथा जैन आगमों को संकलित करने के लिए एक महत्वपूर्ण सरस्वती आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

सरस्वती आन्दोलन के फलस्वरूप आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, भगवती, ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विशाकश्रुत और दृष्टिवाद इस द्वादशांक श्रुत का संरक्षण महावीर स्वामी के निर्वाण के 162 वर्ष बाद ही सम्भव हुआ।[18]

चौथी शताब्दी में आगमों को पुनः व्यवस्थित रूप देने के लिए आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा में द्वितीय सम्मेलन आयोजित किया गया। जैन आगमों की यह दूसरी वाचना 'मथुरी वाचना' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी (सौराष्ट्र) में एक और सम्मेलन आयोजित हुआ और विस्मृत सूत्रों को संकलित किया गया।[19]

जैन धर्म का केन्द्र मगध से बदलने के बाद शूरसेन जनपद अस्तित्व में आया। कुषाण शासकों ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

सरस्वती आन्दोलन का प्रभाव धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश में फैल गया। सरस्वती की अभिलिखित प्रतिमा निर्मित होने के पश्चात् सम्पूर्ण देश में सर्वत्र सरस्वती की प्रतिमा के निर्माण का अभियान प्रारम्भ हो गया। सरस्वती प्रतिमा को सर्वत्र निर्मित कराने में शूरसेन जनपद का महत्वपूर्ण योगदान है।

वीर निर्वाण के पश्चात् दशमी शती में श्वेताम्बरों ने पाटलिपुत्र, मथुरा और वल्लभी द्वारा उस समय की अपनी भाषा में अंगों का संकलन किया उनकी भाषा को अर्द्धमागधी नाम दिया गया। षट्खडागम, कसायपाहुड़ से प्रारम्भ कर 'समयसार', 'धवला' आदि की दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचना हुई, उनकी भाषा का शौरसेनी नामकरण किया गया।[20]

हार्नले[21] के मतानुसार "अर्द्धमागधी का रूप गठन मागधी और शौरसेनी से हुआ है। प्राकृत भाषा के दो वर्ग हैं, एक वर्ग में शौरसेनी बोली है ओर दूसरे में मागधी, प्राकृत बोली है, इनके मध्य में एक रेखा उत्तर में खिंचने पर खालसी से बैराट, इलाहाबाद और दक्षिण में रामगढ़ से जौगढ़ तक है। इस प्रकार शनैः-शनैः ही दोनों प्राकृत, मागधी और शौरसेनी मिलकर तीसरी अर्द्धमागधी बन गई।

यही तथ्य प्रियर्सन ने भी उल्लिखित किया है। प्राचीन भारत में शौरसेनी और मागधी दो ही भाषाएं थीं। वर्तमान में श्वेताम्बर आगम

साहित्य में जो ग्रन्थ अर्द्धमागधी में उपलब्ध हैं, वह अर्द्धमागधी तीर्थंकर महावीर की दिव्य ध्वनि की भाषा नहीं है। इसका रूप तो चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गठित हुआ।[22]

'नाट्यशास्त्र' में यह प्रेरणाप्रद तथ्य उल्लिखित है कि शौरसेनी को सभी उत्तम पुरूषों के द्वारा काव्य आदि साहित्यिक रचनाओं में प्रयोग करना चाहिए।[23]

जैन आचार्यों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक सिद्धान्तों तथा नैतिक शिक्षाओं को समाज के सम्मुख उपस्थित करना था। इसके लिए उन्होंने सभी प्रचलित भाषाओं को अपनाया।

जब अपभ्रंश भाषा का विकास हुआ, तब जैन लेखकों ने अपनी रचनाओं से उसे समृद्ध किया। अपभ्रंश साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जैन धर्मानुयायियों ने विशेष प्रयत्न किया, क्योंकि यह उनके लिए उसी प्रकार उपयोगी थी जिस प्रकार संस्कृत तथा प्राकृत भाषाएं।

शूरसेन जनपद में भाषा एवं साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जैन लेखकों एवं आचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। शूरसेन जनपद की प्रमुख भाषा शौरसेनी का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

शूरसेन जनपद के व्यापारियों का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध थे। उनके आवागमन से समकालीन शब्द-सम्पदा का भी आयात-निर्यात होता रहा। साधु संतों के सर्वत्र विहार करने से तथा श्रुतांगों एवं पठन-पाठन एवं स्वाध्याय करते रहने तथा प्रवचनों का माध्यम शौरसेनी प्राकृत रहने से वह अन्य साहित्यिक ग्रन्थों एवं दैनिक जीवन में भी दूध-शक्कर की भाँति घुल-मिल गई। उदाहरणार्थ सियाराम एवं नरमादा के सिया एवं मादा सीता एवं माता के शौरसेनी रूप है।[24]

शौरसेनी-साहित्य के आचार्यों ने केवल आत्महित का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किये, अपितु सम्पूर्ण जगत के लिए कल्याकणकारी अणुव्रत-पालन के माध्यम से सर्वोदय-सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया।

शौरसेनी प्राकृत-साहित्य में सर्वोदयी-संस्कृति का व्यापक वर्णन किया गया है। वह हृदय-परिवर्तन एवं आत्मगुणों के विकास की संस्कृति स्वीकार की गई है। उसका मूल आधार, प्रेम, मैत्री, करूणा एवं मध्यस्थ भावना है।

जैन कथा साहित्य का प्रभाव हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी कथाओं पर भी पड़ा। इस सन्दर्भ में जॉन हर्टल का कथन उल्लेखनीय है– "जैन साहित्य केवल संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि भारतीय सभ्यता के इतिहास पर भी इससे महत्वूपर्ण प्रकाश पड़ता है।[25]

जैन धर्म में दो शब्द हैं– एक जैन तथा दूसरा धर्म। जैन शब्द 'जिन' से बना है। 'जिन' शब्द का अर्थ है, जीतने वाला। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला 'जिन कहलाता है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति 'जिन' अर्थात् परमात्मा बन सकता है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला वीतराग हो सर्वज्ञ बन जाता है। इस अवस्था में वह जो भी उपदेश देता है वह प्रामाणिक होता है। 'जिन' द्वारा दिया गया उपदेश 'जैनधर्म' कहलाया। दूसरे शब्दों में अपने पौरूष से आत्मा को परमात्मा और सामान्य जन को सुखी बनाने का मार्ग ही जैन धर्म है।

जैनाचार्यों ने वस्तु के स्वभाव को धर्म माना है। प्रत्येक के लिए जो उसका निज गुण है। स्वभाव है वही धर्म है। गीता में भी उल्लिखित है– "स्वधर्मे निधने श्रेयः परधर्मो भयावहः।"[26] शास्त्रों में धर्म की व्याख्या कर्तव्य अथवा दायित्व के रूप में भी की गई है। मानव जीवन के उत्थान के लिए जो भी करने योग्य है, वही धर्म है।

धर्म का सार तत्व आचरण है और इसकी सीमाएं शास्त्रों में निहित है। धर्म साधना हेतु अधर्म का त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है।

सागरमल जैन के मतानुसार, "वह सब धर्म है, जिससे मन की आकुलता समाप्त हो, चाह और चिन्ता मिटे तथा मन की निर्मलता, शान्ति, स्वभाव और आनन्द से भर जावे।"[27]

भारतीय संस्कृति की आत्मा भी धर्म है। यही कारण है कि यहाँ अनेक धर्म पल्लवित पुष्पित हुए हैं। पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री[28] के मतानुसार जैनधर्म किसी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता। वह जीवात्मा को सर्वज्ञ स्वीकार करता है। अतः जैन धर्म किसी ईश्वर या किसी स्वयंसिद्ध पुस्तक के द्वारा नहीं कहा गया है, बल्कि, उस मानव के द्वारा जो कभी हम ही जैसा अल्पज्ञ और रागद्वेषी था, किन्तु जिसने अपने पौरूष से प्रयत्न करके अपनी अल्पज्ञता और रागद्वेष के कारण से अपनी आत्मा को मुक्त कर लिया। इस तरह वह सर्वज्ञ और वीतरागी होकर जिन बन गया, कहा गया है। अतः 'जिन' हुए उस मानव के अनुभवों का सार ही जैन धर्म है।

जिस प्रकार शिव को देवता मानने वाले शैव और उनके धर्म को शैव धर्म तथा विष्णु को देवता मानने वाले वैष्णव तथा उनके धर्म को वैष्णव धर्म कहते हैं। उसी प्रकार 'जिन' को देवता मानने वाले जैन तथा उनके धर्म को जैन धर्म स्वीकार किया गया।

विश्व के प्रायः सभी धर्मों में हिंसा को हेय माना गया है, परन्तु उसे त्याज्य नहीं माना गया है। भारतीय परम्परा में धर्म के लक्षणों में एक अहिंसा है। किन्तु अहिंसा को धर्म का आधार या अंग स्वीकार करने का मुख्य श्रेय श्रमण-परम्परा को है। अहिंसा और सत्य जैन धर्म के आदर्श सिद्धान्त है। जैन धर्म में अहिंसा को चरम सीमा तक पहुँचाया गया है और उसे दृढ़ता से अपनाया गया है।[29]

अहिंसा के अन्तर्गत भावना और विचार को लेकर भगवान महावीर ने आत्म शुद्धि का व्यावहारिक रूप सहज कर दिया। भारतीय संस्कृति के संस्कार पक्ष को जैन धर्म में मान्य अहिंसा ने अविरल प्रभावित किया है। जैन धर्म ने अहिंसा को धर्म का मूल आधार मानकर मानवेतर प्राणियों के लिए भी जीने का अधिकार माना तथा इसे धार्मिक दायित्व के रूप में समाज का कर्तव्य स्वीकार किया।

जैन धर्म में व्यापक स्तर पर अहिंसा की व्याख्या की गई है। मुनि तथा गृहस्थ के लिए अहिंसा पालन की अलग-अलग सीमाएं निर्धारित

की गई। इस धर्म में अहिंसा को एक नैतिक गुण माना गया है। जब तक नैतिक स्तर ऊँचा नहीं होगा, तब तक व्यवहार भी ऊँचा नहीं हो सकेगा।

मानव-व्यवहार की समीक्षा करने के लिए अहिंसा सर्वश्रेष्ठ नैतिक स्तर है। सामाजिक स्तरों एवं नैतिक निर्णयों में गिरावट आ जाने पर कोई भी समाज, संगठन या राष्ट्र गरिमा के साथ जीवित नहीं रह सकता। उचित या अनुचित का निर्णय व्यक्ति के स्तर पर निर्भर करता है।

समाज में कुछ ऐसे लोग अवश्य होने चाहिए जो दृढ़ता से नैतिकता का पालन करें। जैन मुनि ऐसे ही व्यक्तित्व हैं; जो अहिंसा तथा अपरिग्रह के सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक आचरण करते हैं। जैन मुनियों ने समाज को सर्वाधिक प्रभावित किया। समाज जैन मुनियों का सम्मान करता है तथा उनके समान जीवनचर्या अपनाने का प्रयत्न करता है। जैन धर्म में अहिंसा को एक प्रमुख महाव्रत के रूप में स्थान प्राप्त है।[30]

अहिंसा महाव्रत से तात्पर्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस– ये छह कायिक जीव, इन्द्रिय, गुणों स्थान, मार्ग, कुल, आयु और योनि इनमें जब जीवों को उपस्थित जानकर उठने-बैठने आदि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।[31]

भगवती अराधना में उल्लिखित है– "जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर सदा अपनी ही तरह सभी जीवों के प्रति समान अहिंसापूर्ण व्यवहार करना चाहिए।"[32]

भूख, प्यास, रोग, शीत तथा आपात से पीड़ित होने पर भी अन्य प्राणियों का घात करके अपनी भूख-प्यास आदि को शान्त करने की बात तक मन में नहीं लाना चाहिए।[33]

जैन दर्शन अहिंसा मात्र किसी के घात से बचना ही नहीं अपितु वाणी से न किसी को ठेस पहुँचाना और न ही मन में किसी प्रकार की दुर्भावना लाना है।[34]

अहिंसा व्रत से बड़ा और कोई व्रत नहीं है। यह सर्व आश्रमों का हृदय, सभी शास्त्रों का मर्म और सभी व्रतों का निचोड़ है।[35]

समन्वय तथा पारस्परिक प्रेम को बढ़ाने के लिए महावीर स्वामी ने अनेकान्त सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जैन धर्मावलम्बियों ने अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार कर पारस्परिक सहिष्णुता का भाव बढ़ाया।

अनेकान्त के अनुसार सत्य के अनेक पक्ष होते हैं तथा प्रत्येक पक्ष को दूसरे पक्ष का सम्मान करना चाहिए। अनेकान्त एक व्यापक जीवन दर्शन है। उसकी व्यावहारिकता धर्म के नैतिक आधारों और सहिष्णु प्रकृति के प्रसार के लिए आवश्यक है।

अनेकान्त की विचार धारा विभिन्न धर्मों तथा आस्थाओं के बीच समन्वयात्मक प्रवृत्ति को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई। जहाँ अहिंसा को सामाजिक आदर्श कहा जा सकता है वहाँ अनेकान्त बौद्धिक क्षेत्र का आदर्श है।[36]

भगवान पार्श्वनाथ ने अपनी महान सांस्कृतिक साधना के द्वारा इस बात पर विशेष बल दिया कि अहिंसा ही संस्कृति की आत्मा है। भगवान महावीर ने अहिंसा, स्याद्वाद, कर्मवाद और साम्यवाद की जिस पावन धारा को तीव्र वेग से प्रवाहित किया, उसमें पवित्र होकर मनुष्य सदैव स्थायी सुख-शान्ति एवं अमरत्व को प्राप्त करता रहेगा।[37]

भगवान महावीर के पश्चात भद्रवाहु, कुन्द कुन्दाचार्य, स्थूलभद्राचार्य, उमास्वामी, समन्दभद्र, अकलंकदेव, हेमचन्द्र, स्कन्दिलाचार्य आदि आचार्यों ने जैन धर्म एवं संस्कृति का संरक्षण एवं पोषण किया।

जैन धर्म में व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है। यहाँ साधना का लक्ष्य है आत्म-विश्वास और पूजा का लक्ष्य है दूसरों को आदर्श मानकर उनके गुणों की आराधना।[38]

दर्शन के क्षेत्र में जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। जैन धर्मावलम्बियों के *'णमोकार मन्त्र'* में, जिसे जैन परम्परा का मूलमन्त्र कहा जाता है, पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। अर्थात् उन

सभी आत्माओं को नमस्कार किया गया है, जो आत्म-विकास की चरम सीमा को प्राप्त कर चुके हैं अथवा पहुँचने के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। *'अरहंत शरणम् पवज्जामि'* में उन्हीं आत्माओं की शरण लेने की बात कही गयी है, जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य गुणों के धारक है। *'णमो लोए सत्व साहूणं,* ज्ञान तथ्य का प्रतीक है कि इस मन्त्र के प्रणेताओं का हृदय अत्यधिक उदार, विशाल और मध्यस्थ भाव से ओत-प्रोत था।[39]

जैन धर्म में 'समत्व' का सिद्धान्त भी बहुत महत्वपूर्ण है। समत्व का जहाँ निवास है वहाँ विश्व प्रेम का स्वतः जन्म होता है। पूर्णता की प्राप्ति इसका अन्तिम लक्ष्य और विश्व-कल्याण की कामना इसकी प्रारम्भिक भूमिका है। यह धर्म सम्पत्ति– त्याग के लिए है न कि निर्धनों के शोषण के लिए।

स्याद्वाद जैन धर्म की अभूत पूर्व देन है। यह धार्मिक सहिष्णुता और समन्वयवाद का प्रतीक है।

जैन धर्म के अनुसार व्यक्ति अपना विकास स्वयं के ही परिश्रम से कर सकता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। जो जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार फल की प्राप्ति होती हैं। कोई ईश्वर या अन्य ब्राह्य शक्ति इस कारण कार्य नियम में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

वर्तमान में उपलब्ध जैन सिद्धान्तों महावीर स्वामी की साधना और चिन्तन का परिणाम है। महावीर स्वामी ने जीवन और जगत से सम्बन्धित किसी भी जिज्ञासा को अव्याकृत कह कर स्थगित नहीं किया। उन्होंने प्रत्येक जिज्ञासा का संतुलित समाधान प्रस्तुत किया।

जैन दर्शन सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक्चरित्र की धुरि पर प्रतिष्ठित हैं। दृष्टि जब तक पवित्र नहीं है, ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता है और सच्चे ज्ञान के बिना सदाचरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

फलस्वरूप जैन दर्शन में इनको सम्मिलित रूप से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कहा गया है।

सम्यक दर्शन में सम्पूर्ण तत्व मीमांसा निहित है। सम्यक ज्ञान में ज्ञान मीमांसा, सम्यक चरित्र जीवन की एक पूर्ण आचार-संहिता है। दीर्घ अवधि के पश्चात भी जैन दर्शन के तत्व, चिन्तन और ज्ञान मीमांसा में कोई विशेष अंतर नहीं आया। आचार-संहिता युग और परिस्थतियों के अनुसार परिवर्तित होती रही है।

सिद्धान्तों की उदारता और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही जैन दर्शन ने विकास की इतना व्यापक सम्भावनाएँ स्वीकार की कि व्यक्ति से विराट, आत्मा से परमात्मा, मानव से महामानव और जीव मात्र में भगवान बनने की शक्ति भरी हुई है।

वाह्य एवं आन्तरिक दृष्टियों का भारतीय दर्शन में समान स्थान है। जहाँ वाह्य दृष्टि के माध्यम से ज्ञान जगत के जड़ तत्व अर्थात् सांसारिकता की जानकारी एकत्र करते हैं, वहीं आन्तरिक दृष्टि अर्थात् ज्ञान नेत्र से चेतन तत्व के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्वों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। परम तत्व की प्राप्ति के लिए दोनों पदार्थों का साक्षात्कार होना अत्यन्त आवश्यक है। सूक्ष्म पदार्थों के साक्षात्कार के लिए अर्न्तदृष्टि की आवश्यकता होती है। प्रज्ञा चक्षु ही अर्न्तदृष्टि है, जिसे दर्शन कहते हैं। दर्शन का मुख्य उद्देश्य आत्मा एवं प्रकृति का यर्थाथ ज्ञान प्राप्त करना है।[40]

जैन दार्शनिक परम्परा में प्रत्येक द्रव्य अथवा सत् पदार्थ परिणामी होने के कारण एक धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण करता रहता है। इसी स्वभाव के कारण प्रत्येक सत् का उत्पाद व्यय भी होता रहता है।[41]

आदि से अन्त तक जैन धर्म के सिद्धान्तों में निवृत्ति मार्ग का प्रधान स्थान है, जिसके माध्यम से व्यक्ति जगत की अनेक प्रकार की व्याधियों और तृष्णाओं से विमुक्त हो जाता है। प्रवृत्ति मार्ग में लिप्त व्यक्ति सुख और समृद्धि के लिए सर्वथा भोग और तृष्णा में व्यस्त रहता है। जैन धर्म

के अनुसार प्रवृत्ति का त्याग करके निवृत्ति का अनुपालन ही वास्तविक और स्थायी सुख का स्त्रोत है।[42]

जैन धर्म का आचार तत्व मन और आत्मा की शुद्धि पर विशेष बल देता है। इसमें बाह्य शुद्धि के स्थान पर अन्तः शुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है तथा सच्चरित्रता और सदाचारण उसके प्रधान आधार माने गए हैं।

जैन धर्म को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। उच्च एवं नीच का निर्धारण कर्म से होता है। सत्कर्म का पालन करने वाला व्यक्ति ही उच्च है।

जैन धर्म ने दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। त्रिरत्न एवं स्यादवाद, अहिंसा, पंचअणुव्रत आदि सिद्धान्त जैन धर्म-दर्शन के प्रमुख तत्व है। जिनका व्यावहारिक पक्ष आज भी दृष्टिगत होता है।

शूरसेन जनपद में जैन धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि जन सामान्य ने भी जैन धर्म एवं दर्शन को स्वीकार करके प्रचार-प्रसार में विशेष भूमिका अभिनीत की।

जैन दर्शन के फलस्वरूप भारतीय, दार्शनिक चिन्तन परम्परा को गौरव प्राप्त हुआ। उनका स्याद्वाद, तत्वज्ञान, अनेकान्तवाद, कर्म, पुर्नजन्म, द्वैतवादी, सिद्धान्त आधुनिक दार्शनिकों के लिए माननीय है। इसके अतिरिक्त दर्शन के क्षेत्र में जैन धर्म ने सृष्टि, आत्मा, जीव, अजीव, आदि पर विचार प्रस्तुत किये तथा दार्शनिक खण्डन-मण्डन के सिद्धान्त को प्रोत्साहित किया।

जैन धर्म अनीश्वरवादी धर्म है परन्तु व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च स्थिति का लक्ष्य स्पष्ट करता है। अहिंसा को जनसाधारण से लेकर शासकों तक पहुँचाने का श्रेय जैन धर्म को ही प्राप्त है। सभी जीवों को भी जीने के अधिकार का तथ्य स्पष्ट करने का श्रेय जैन धर्म को ही जाता है।

शूरसेन जनपद का जैन धर्म एवं दर्शन की भाँति कला के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान है। प्राचीन काल में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत तथा नृत्यकला का अत्यधिक विकास दृष्टिगोचर होता है।

जैन साहित्य में नगर निवेश, पथ, भवन आदि के निर्माण के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं। भगवान महावीर ने मूर्तिपूजा का कोई विधान घोषित नहीं किया था परन्तु मानव में अपनी श्रद्धा को व्यक्त करने का प्रतीक आरम्भ से रहा है। इसके फलस्वरूप मूर्तियों और मन्दिरों का उद्भव हुआ।

जैन परम्परा में सर्वाधिक प्राचीन अभिलेख कलिंग के शासक खारवेल द्वारा उत्कीर्ण कराए गए, हाथी गुफा अभिलेख में प्राप्त हुआ है।[13]

शूरसेन जनपद में शुंगकाल से जैन स्तूपों, आयागपट्टों और मूर्तियों के निर्माण की परम्परा दृष्टिगोचार होती है। उल्लेखनीय रुप से शुंग कुषाणकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल तक देश भर में बड़े रूप में जैन प्रतिमाओं तथा मन्दिरों का निर्माण हुआ।

मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित प्रस्तर प्रतिमाओं एवं अन्य कलाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ और देश भर में भेजी जाने लगी। आयागपट्ट पूजा के लिए निर्मित किए जाते थे।

प्रतिमाएँ तथा मन्दिर जनसभाओं के नैतिक चरित्र को ऊँचा उठाने का माध्यम है। भारतीय कलाओं को जैन धर्म का अभूतपूर्व योगदान है। विभिन्न राजवंशों, धार्मिक वर्गों तथा जनसाधारण ने कलाओं के उत्थान में प्रचुर योगदान दिया।

जैन मन्दिरों का निर्माण सम्पूर्ण भारत में व्यापक स्तर पर किया गया। जैन समाज के धनिक वर्ग ने अपनी आय के बड़े भाग का उपयोग मन्दिरों के निर्माण के लिए किए। उनके प्रोत्साहन से समाज में शिल्पियों का बड़ा वर्ग तैयार हो गया। इन मन्दिरों से समाज की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हुई। मन्दिरों से पूजा स्थल में लोग एकत्र होते

थे। मन्दिर धीरे-धीरे शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बने जहाँ से धार्मिक तथा उच्च विचारों का प्रसार होता था।

मध्यकालीन जैन धर्म में चार ऐसे तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। जिनसे सामाजिक ढाँचे को आधार प्राप्त हुआ। ये तत्व थे मन्दिर जैन मुनि और आचार्यों धार्मिक जीवन पर आधाारित संघ तथा शिखा प्राप्त हुई।[44]

मन्दिर प्रासादों तथा प्रतिमाओं के निर्माण से स्थापत्य तथा मूर्तिकला को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मन्दिरों में सामूहिक पूजा अर्चना के साथ-साथ शिक्षा तथा धार्मिक विचारों के प्रसार की व्यवस्था थी। अनेक देवालयों में धार्मिक संगीत तथा नाट्य का आयोजन होता था।

मौर्य, शुंग तथा कुषाण एवं सातवाहन काल में कला पक्ष प्रधान था। इस समय इमारतों की भव्यता और विशालता पर विशेष बल दिया जाता था। कुषाण काल में मूर्तियों को परिपक्वता प्राप्त हुई।

शुंग-कुषाण काल की प्रस्तर प्रतिमाओं के अतिरिक्त आरम्भिक मृणमूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें मातृकाओं की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं, जो प्रागैतिहासिक कालीन मूर्तियों की अपेक्षा अधिक विकसित है।

उक्त मूर्तियों के चेहरे हाथ से निर्मित न होकर साँचों से बनाये गए हैं। इनकी आकृति भी पशु-पक्षी की न होकर मानव की है। शरीर का शेष भाग साँचे की बजाय हाथ का गढ़ा हुआ है। प्राचीनतम मूर्तियों की भाँति इनके आभूषण भी अलग से चिपके हुए हैं और इनके रंग भी सलेटी है।[45]

इनके नेत्र बड़े और केश सुसज्जित हैं। मथुरा संग्रहालय में इस काल की मृणमूर्तियां उल्लेखनीय हैं।[46]

तत्कालीन समय में मातृकाओं की प्रतिमाओं के अतिरिक्त मिट्टी के खिलौने भी निर्मित होने लगे थे। एक हाथी का खिलौना संरक्षित है।[47]

यह आधुनिक खिलौने के समान है। इसे देखकर यह कल्पना करना कठिन है कि यह अत्यधिक प्राचीन है।

शुंग-काल की मृणमूर्तियाँ मौर्य कालीन मूर्तियों की अपेक्षा अत्यधिक विकसित एवं कलात्मक है। इस समय मृणमूर्ति कला में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। उसने इसके रूप को उन्नत बना दिया था। उस कला की मृणमूर्तियाँ पूरी तरह साँचों में ढालकर बनाई गई है, अतः उनके किसी अंग अथवा अलंकरण को अलग से जोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इनका रंग गेरूआ है। इनमें मातृकाओं के कई रूपों के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त नर-नारियों, पशुओं और विविध वस्तुओं की मृणमूर्तियाँ भी प्रकाश में आयीं।[48]

शूरसेन जनपद से प्राप्त इन मृणमूर्तियों के ललितकला को समझने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।

शुंग-कुषाण कालीन मूर्तियों में स्त्रियों के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें केश-विन्यास की अनेक शैलियाँ हैं। किसी की बेणियाँ लटक रही है, तो किसी के बाल बिखरे हुए हैं, अन्य विशाल जूड़ा बाँधें हैं। एक आकृति में महिला प्रसाधन में लीन है। उसके एक हाथ में दर्पण है, और दूसरे हाथ से वह अपने केश सम्भाल रही है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह एक गद्देदार बड़ी व ऊँची कुर्सी पर बैठी है, जो आजकल की आराम कुर्सी जैसी प्रतीत होती है।

भारतीय कला में खजुराहों, कोणार्क पुरी आदि के रीति प्रधान अंकनों की प्रायः चर्चा होती है, किन्तु उससे भी शताब्दियों पूर्व शूरसेन जनपद में पुरूष तथा स्त्रियाँ मिट्टी में अंकित दिखती हैं।[49]

उत्तर भारत में जैनकला के जितने प्राचीन केन्द्र थे। उनमें शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा का स्थान सर्व प्रमुख है। यहाँ के चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर की निर्मित असंख्य कलाकृतियाँ शूरसेन जनपद से प्राप्त हुई हैं। इनमें तीर्थंकर आदि की प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौकीदार अलंकृत आयागपट्ट, वेदिका-स्तम्भ, तोरण, तथा द्वार स्तम्भ आदि प्रमुख हैं। शूरसेन जनपद के कंकाली टीले से प्राप्त जैन आयागपट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[50]

इन पर बीच में तीर्थंकर मूर्ति तथा उसके चारों ओर विविध प्रकार के मनोहर अलंकरण मिलते हैं। स्वास्तिक, नन्दयावर्त, वर्धमान, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश, और मीनयुगल आदि अष्टमंगल द्रव्यों का आयागपट्टों पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। अधिकांश कला-कृतियाँ ब्राह्मी लिपि में अभिलिखित है।

मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों में हाथ में पुस्तक लिए हुए सर्वाधिक प्राचीन सरस्वती प्रतिमा, अभयमुद्रा में देवी आर्यावती तथा नैगमेष की अनेक प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय है। जो वर्तमान में मथुरा एवं राज्य संग्रहालय में सुसज्जित हैं।

कुछ कार्योत्सर्ग मुद्रा में भी है। अनेक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा भी प्रकाश में आई जो कुषाण गुप्त तथा मध्यकाल की अमूल्य देन है। कलाकारों ने विभिन्न जिनों के प्रतिमाओं के निर्माण में दिव्य सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिकता का भाव प्रदर्शित किया है। उसे देखकर विदित होता है। कि भावों को अभिव्यक्त करने में ये कलाकार कुशल तथा सिद्धहस्त थे।[51]

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य देवी देवता को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय है। प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक यक्ष और यक्षिणी का अंकन सर्वाधिक प्राप्त होता है। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। नवीं शती की देवी अम्बिका की भी पाषाण-प्रतिमा है। जो वर्तमान में लखनऊ संग्रहालय में संरक्षित है।[52]

इस प्रकार शूरसेन जनपद में वास्तुकला, मूर्तिकला, आदि के क्षेत्र में विशेष योगदान है। जैन स्तम्भ सबसे अधिक प्राचीनतम कंकाली टीले के अवशेषों में दृष्टव्य है। स्तूप का अंकन आयागपट्ट पर भी दृष्टिगोचर होता है। कला के क्षेत्र में इस जनपद में जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ के कलाकारों ने अपनी कुशलता का परिचय कलाकृतियों में दिखायी है।

संसार की ललित कलाओं में चित्रकला एक ऐसी कला है जिसके द्वारा सिद्धान्त और मान्यताओं का सबसे अधिक प्रचार किया जा सकता है। इसके द्वारा गम्भीर और व्यापक मनोभावों को बड़ी सरलता एवं सहजता से जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है।

लोक भावनाओं और क्रिया-कलापों को चिरस्थायी बनाने और उनका प्रतिनिधित्व करने की अपूर्व क्षमता चित्रकला में निहित है। कभी-कभी हृदयगत् मूल्यवान भावों के प्रवाह का यथागत स्पष्टीकरण शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता है, परन्तु रंग और रेखाओं के माध्यम से अकथनीय विचारों को प्रकट करना बहुत सरल हो जाता है।[53]

जैन धर्मानुयायियों ने चित्रकला के विकास में भी अपूर्व योगदान दिया। प्राचीनतम् जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुतांग नायाधम्म-कहाओ[54] में धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर एवं सजीव वर्णन किया गया है, जिसका छत लताओं, पुष्पवल्लियों तथा चित्रों से अलंकृत किया गया था।

बृहत्कल्पसूत्र भाष्य[55] में एक गणिका का उल्लेख है, जो चौसठ कलाओं में कुशल थी। उसने अपनी चित्रसभा में अनेक प्रकार के जातियों एवं व्यवसायों के पुरूषों के चित्र लगाये थे।

आवश्यकटीका[56] के पद्य में एक चित्रकार का उदाहरण देकर उल्लिखित किया गया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास ही उसमें पूर्ण प्रवीणता प्रदान कराता है।

चूर्णिकार ने इस तथ्य को समझते हुए कहा है कि निरन्तर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपों के समुचित प्रमाण को बिना नाप-तौल ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका में यह भी उल्लिखित है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझ कर हाथों में लेने का प्रयत्न करने लगा।

आवश्यकचूर्णिकार ने कहा कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने में भाषा और विभाषा का वही स्थान है, जो चित्रकला में चित्रकार को प्राप्त है। जैन साहित्यिक उल्लेखों से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल में हो चुका था और यह कला सुविकसित एवं सुव्यवस्थित हो चुकी थी।[57]

चित्रकला की अनेक जैन साहित्यिक रचनाओं में भी चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। 11वीं-12वीं शताब्दी में रचित जैन कथा कृतियों में चित्रकला के सम्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी चर्चाएं दृष्टिगोचर होती है।

मागधी-प्राकृत की कथा कृति 'सूर सुन्दरी कहा' में भ्रमर और कुमुदनी का चित्र चित्रित है।[58]

जैन ग्रन्थ आचांराग सूत्र में जैन साधुओं और ब्रह्मचारियों को चित्रशालाओं में जाने और ठहरने से वर्जित किया गया है।[59]

जैनाचार्य हेमचन्द्र (1082-1172 ई.) के महाकाव्य 'त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित' में तत्कालीन राजदरबारों में अनेक चित्रकारों की सभा होने का वर्णन है, जो भित्तिचित्रों से सुसज्जित थीं।[60]

प्रभावकचरित्र के 'वप्पभट्टसूरिचरित्र' में नवीं शताब्दी में भगवान महावीर के चित्रपदों के बनाने का उल्लेख है। वप्पभट्टसूरि को चित्रकार ने महावीर की मूर्ति वाले चार चित्रपट्ट तैयार करके दिये।

वप्पभट्टसूरि जी ने उनकी प्रतिष्ठा करके एक कन्नौज के जैन मन्दिर में, एक मथुरा में, एक अणहिल्लापाटण में, एक सत्तारकपुर में भेज दिए। जिनमें पाटण वाला पट्ट विदेशी आक्रान्ताओं ने पाटण को विध्वंस करते समय नष्ट कर दिया। नवीं शताब्दी में महावीर के उक्त चार चित्रपट्ट बनाये जाने का उल्लेख बहुत ही महत्वपूर्ण है। परन्तु दुःख है कि उनमें से एक भी उपलब्ध नहीं है। हरिभद्र सूरी ने आवश्यक वृत्ति में समवसरण चित्र बनाये जाने का उल्लेख किया है।[61]

जैन धर्म का प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। कला के क्षेत्र में जैन धर्म की विशिष्ट भूमिका है।

शूरसेन जनपद के कंकाली टीले से संगीत के क्षेत्र में प्राप्त नीलान्जना का नृत्य-पट्ट यह सिद्ध करता है कि गीत-संगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[62]

महावीर स्वामी के भ्रूण के स्थानान्तरण का एक प्रस्तर पट्ट कंकाली से उपलब्ध हुआ है, उस पर बच्चे के जन्म के महोत्सव पर नृत्य का सुंदर अंकन किया गया है।[63]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वाजपेयी, कृष्णदत्त; भारतीय वास्तुकला के विकास में जैन धर्म का योगदान, पृ. 15, प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, संयुक्तांक 36, नवम्बर-दिसम्बर 2004।
2. उपाध्ये ए.एन.; जैन कन्ट्रीब्यूशन टू इण्डियन हेरिटेज, कन्ट्रीब्यूशन ऑव जैनिज्म टू इण्डियन कल्चर (सं.) द्विवेदी, आर.सी., पृ. 10
3. शास्त्री, नेमिचन्द्र; प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 1
4. उपाध्ये; ए.एन; पू.नि., पृ. 15
5. जैन, हीरालाल; भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 34
6. उपाध्ये, ए.एन; पू.नि., पृ. 15
7. निशीथचूर्णि, 10.2860; जैन, ज्योति प्रसाद : द जैन सोर्सेज ऑव द हिस्ट्री ऑव ऐश्यन्ट इण्डिया, पृ. 60; शाह, सी. जे.; जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, पृ. 28, 188
8. पिशल, प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण, पृ. 18-25; मनमोहन घोष, का जर्नल ऑव डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स, जिल्द 23, कलकत्ता 1933 में प्रकाशित "महाराष्ट्री शौरसेनी के बाद का रूप", नामक लेख; ए.एम.

घाटगे, जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बम्बई, जिल्द 3, भाग-4, में "शौरसेनी प्राकृत लेख"।

9. पिशल; पू. नि. : पृ. 39-43
10. मजूमदार, आर. सी.; दि क्लैसिकल एज, भाग-3, पृ. 416
11. शास्त्री नेमिचन्द्र; पू.नि., पृ. 4
12. राय, रामजी; प्राकृत भाषा और जैन धर्म-दर्शन, पृ. 13, श्रुत संवर्धिनी, अंक 9, लखनऊ, दिसम्बर 2004
13. राय, रामजी; पू. नि., पृ. 14
14. राय, रामजी; पू. नि., पृ. 15
15. पाण्डेय, राजेन्द्र; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 73
16. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 24
17. प्रेमी, फूलचन्द जैन; मथुरा का सुप्रसिद्ध सरस्वती आन्दोलन और उसका प्रभाव, पृ. 11-13; श्रुत संवर्धिनी, अंक 10, लखनऊ, जनवरी 2005
18. प्रेमी, फूलचन्द जैन : पू.नि., पृ. 11-13
19. मजूमदार, आर.सी.; पू.नि., पृ. 415; चतुर्वेदी, रेखा; जैन आगम इतिहास एवं संस्कृति, पृ. 11, 12; मुनि, कल्याण विजय; वीर निर्वाण और जैन काल गणना, पृ. 120
20. शास्त्री, नाथूलाल जैन; तीर्थंकर दिव्य ध्वनि की भाषा; अर्हत वचन, अंक 11, पृ. 45-48
21. हार्नले; कम्परेटिव ग्रामर; भूमिका, पृ. 17
22. प्रियर्सन; सेवन ग्रामर्स ऑफ दी डाइलेक्टर्स, पृ. 240
23. भरतमुनि; नाट्शास्त्र, 17/34, पृ. 273
24. जैन, राजाराम; शौरसेनी प्राकृत का उद्गम और जैन साहित्य को उसका अवदान, पृ. 119, ऋषभ सौरभ, 1998, नई दिल्ली।

25. जॉन, हर्टल; द लिटरेचर ऑफ दि श्वेताम्बर जैन्स, पृ. 376

26. गीता; 3.35

27. जैन सागरमल; धर्म का मर्म, पृ. 10

28. शास्त्री, कैलाशचन्द्र; जैनधर्म, पृ. 68

29. वाजपेयी, कृष्णदत्त तथा पाण्डेय, विमलचन्द्र; प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 36

30. दशवैकालिक 4-11, मूलाचार 1.5

31. आचारंग, 5/1/1

32. आचारांग, 5/1/1

33. पू.नि.

34. अहिंसा और अणुव्रत, पृ. 11-12

35. भगवती-आराधना, 784

36. उपाध्ये, पू.नि., पृ. 25

37. कोठिया, दरबारी लाल; श्रमण संस्कृति की भारतीय संस्कृति को देन; जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, अंक 2, पृ. 35-36, दिसम्बर 1971

38. कोठिया, पू. नि., पृ. 36, 37

39. कोठिया, पृ. नि., पृ. 36, 37

40. यादव, झिनकू; जैन धर्म की ऐतिहासिक रूप-रेखा, पृ. 179

41. मेहता, मोहन लाल; जैन धर्म-दर्शन, पृ. 358

42. उत्तराध्यान 13.6.17, 14.13, 13.26; जैनसूत्र 2.301.4

43. सरकार, डी.सी.; सेलेक्ट इन्सिक्रप्शन्स, भाग-2, पृ. 215 कलकत्ता 1965

44. उपाध्ये, ए.एन; जैन कन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन हेरिटेज, पृ. 22

45. मीत्तल, प्रभुदयाल; ब्रज की कलाओं का इतिहास, पृ. 76

46. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 19.1592, 40.2872, 42.2923
47. राजकीय संग्रहालय मथुरा संख्या 55.3901
48. मीत्तल, प्रभुदयाल; पू. नि., पृ. 76
49. मीत्तल, पू. नि. पृ. 78
50. वाजपेयी, कृष्णदत्त; जैन कला एवं पुरातत्व, पृ. 37
51. वाजपेयी; पू. नि., पृ. 37
52. जैन, हीरालाल; भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. 354, 355
53. जैन, पुष्पमित्र; जैन संस्कृति का योगदान; जैन सिद्धान्त भास्कर; किरण-1, भाग-25, आरा, जुलाई 1967
54. नायाधम्म-कहाओ–19
55. बृहत्कल्पभाष्य; 2.5, 262
56. जैन, हीरालाल, पू.नि., पृ. 362, 363
57. जैन, हीरालाल, पू. नि., पृ. 363
58. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, पृ. 93
59. आचारंग, सूत्र, 2/2/3/13
60. जैन, उषा किरण; जैन चित्रकला, प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, पृ. 17 नवम्बर-दिसम्बर 2004, लखनऊ
61. भगवान महावीर चित्रावली, अगरचन्द नाहटा, वीर परिनिर्वाण, पृ. 11 सितम्बर 1974
62. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 354
63. राज्य संग्रहालय लखनऊ संख्या जे. 626

अध्याय अष्टम्

उपसंहार

जैन धर्म की गणना भारत के प्राचीनतम धर्मों में होती है। जैन धर्म की लोकप्रियता का कारण नैतिकता पर आधारित इसकी सहजता है। जैन धर्म शूरसेन जनपद में महावीर काल से ही अस्तित्व में था। परन्तु महावीर काल का कोई पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है।

उत्तर भारत के कुछ ही राजाओं ने जैन धर्म को अंगीकार किया, जिनमें चन्द्रगुप्त मौर्य खारवेल, नागभट्ट द्वितीय और कुमार पाल प्रमुख हैं। बाहरवीं शती ई. तक के अधिकांश राजवंशों के शासकों का जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण रहा था। इसके दो प्रमुख कारण दृष्टिगोचर होते हैं, प्रथम भारतीय शासकों की धार्मिक सहिष्णुता तथा द्वितीय, जैन धर्म की व्यापारियों, व्यवसायियों एवं सामान्यजनों के मध्य विशेष लोकप्रियता।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैन धर्म और कला को शासकों से अधिक व्यापारियों, व्यवसायियों एवं सामान्य जनों का समर्थन और सहयोग प्राप्त हुआ। शूरसेन जनपद के कुषाण कालीन लेखों से तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

भारतीय संस्कृति के अनेक अंगों के पुष्पित-पल्लवित करने में जैन धर्म का उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण योगदान है। जैन धर्म में स्वतन्त्र चिन्तन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अहिंसा त्याग और परोपकार इस धर्म के आधार-स्तम्भ हैं। तीर्थंकर महावीर स्वामी ने जैन धर्म को

स्थायित्व प्रदान किया। अहिंसा पर उन्होंने विशेष बल दिया। समता के महत्व का प्रतिपादन कर उन्होंने जाति भेद का बहिष्कार किया।

शूरसेन जनपद में जैन धर्म का विकास क्रमागत रूप से दृष्टिगोचर होता हैं महावीर स्वामी के निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् भी शूरसेन जनपद में प्रचार-प्रसार होता रहा। मगध में बिम्बिसार उसके पुत्र अजातशत्रु तथा नन्दवंश के शासकों ने जैन धर्म को प्रोत्साहन एवं सरंक्षण प्रदान किया। नन्दवंश के पतन के पश्चात् मगध की सत्ता पर चन्दगुप्त मौर्य का शासन स्थापित हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में सर्वविदित है कि वह अपने जीवन के अन्तिम समय में जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। शूरसेन जनपद में मौर्य वंश के राजाओं ने अन्य धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

शुंग सातवाहन वंश में इस जनपद में जैन धर्म अन्य धर्मों के साथ मुख्य धारा में समाहित रहा।

शुंगवंश के समय में शूरसेन जनपद के प्रमुख केन्द्र कंकाली टीले से एक स्तूप की प्राप्ति हुई है। प्रस्तर पट्ट के सिरदल पर स्तूप उत्कीर्ण है तथा दायें-बायें भक्तगण पूजा-अर्चना के लिए खड़े हैं। शुंग-सातवाहन वंश के शासकों ने जैन धर्म को महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

शक कुषाण शासकों ने जैन धर्म को जन धर्म बनाने में विशिष्ट भूमिका निभाई। कुषाणवंशी शासकों में प्रमुख रूप से कनिष्क एवं हुविष्क राजाओं ने शूरसेन जनपद को आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से समृद्धशाली बनाया।

कुषाणकाल में मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित पूजनीय स्तूप, चैत्यवृक्ष, धर्मवृक्ष, आयागपट्ट, ध्वज स्तम्भ, मांगलिक चिन्ह, स्वास्तिक, श्रीवत्स, विकसित कमल, मत्स्ययुग्म, पूर्णघट, त्रिरत्न, सरावसम्पुट एवं भ्रदासन प्रतिमाएं आदि कलाकृतियाँ शूरसेन जनपद में उन्नत कला का दिग्दर्शन कराती हैं। सर्वप्रथम मथुरा कला शैली के

अन्तर्गत निर्मित प्रतिमाओं में लाँछन उत्कीर्ण किया गया। यह महत्वपूर्ण विशेषता है।

इस क्रमिक विकास में गुप्तकाल में भी जैन धर्म वैष्णव धर्म के समान ही समाज में विद्यमान चार गुप्त शासक वैष्णव मतावलम्बी थे परन्तु उनमें धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी, फलतः उन्होंने सभी धर्मों को आश्रय प्रदान किया तथा सभी धर्मों की प्रगति में योगदान दिया।

अपने मूल निवास स्थान मगध से आरम्भ होकर पूर्व में कलिंग, पश्चिम में शूरसेन दक्षिण पश्चिम में मालवा तथा दक्षिण में महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेशों में जैन धर्म विकसित हुआ।

गुप्त शासन काल में बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात तथा राजस्थान में जैन धर्म वैदिक तथा बौद्ध धर्मों के साथ फलत-फूलता रहा। कई राजवंश शासकों के मन्त्रिगण तथा व्यापारी जैन धर्म के प्रति आस्थावन थे। देवालयों का निर्माण, तीर्थंकरों की पूजा, जैन समारोहों का आयोजन तथा ज्ञान का प्रसार चौथी से छठी शती तक विशेष रूप से हुआ।

गुप्तों के पतन के पश्चात् से बारहवीं शती ई. तक विवेच्य क्षेत्र में जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार हुआ। मुस्लिम आक्रान्ताओं के आगमन के बाद भी अन्य धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म को भी आघात पहुँचा। राजाश्रय के अभाव में एवं बर्बर आक्रमणों के पश्चात् भी जैन धर्म आज भी विद्यमान है।

जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में मौर्यवंश के राजाओं से लेकर राजपूत युग के शासकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

विवेच्य अध्ययन क्षेत्र में जैन धर्म के मुख्य केन्द्रों में कंकाली टीला, जैन चौरासी, बटेश्वर, शौरीपुर, सोख, अरिंग, महावन, छाता, मठ, भुतेश्वर, बरसाना और चौबिया पाड़ा आदि प्राचीन ऐतिहासिक प्रमुख स्थल हैं। जहाँ से उत्खनन द्वारा विपुल जैन कलाकृतियाँ प्रकाश में आई

है। इन कलाकृतियों की प्राप्ति से यह विदित होता है कि प्राचीन समय में जैन धर्म शूरसेन जनपद के कोने-कोने तक फैला था।

उपर्युक्त छोटे-छोटे स्थान से तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्राप्ति हुयी जिससे यह विदित होता है कि सामान्य जन पूजा-अर्चना के लिए तीर्थंकरों की प्रतिमाएं प्रतिस्थापित कराते थे।

विवेच्य क्षेत्र में जैन मूर्तिकला कुषाण काल में अपनी चरमोत्कर्ष पर थी। समय-समय पर उत्खनन कार्य किया गया जिसमें असंख्य जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। प्रतिमाओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में जिनों के लांछन नहीं थे। प्रतिमाओं पर चतुरवर्ग संघ का अंकन दृष्टव्य है।

इनमें साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएं अंकित हैं। एक महत्वपूर्ण उदाहरण में तीर्थंकरों के जन्म कल्याण का अंकन है। महावीर के भ्रूण का स्थानान्तरण करने का दृष्य है तथा इसमें शिशुओं के देवता नैगमेष की पूजा करने का महत्व भी अंकित है। एक अन्य उदाहरण है भगवान ऋषभ का वैराग्य पट्ट या नीलान्जना का नृत्यापट्ट। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान ऋषभ को संसार की असारता का ज्ञान हुआ और उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया क्योंकि नृत्य करते-करते ही आयु पूरी होने के पश्चात् नीलान्जना की मृत्यु हो जाती है। यह देखकर ऋषभनाथ को वैराग्य हो जाता है।

कंकाली टीले से प्रथम शती ई. पू. से लेकर बारहवीं शताब्दी तक प्रतिमाओं का निर्माण कार्य प्रमुख रूप से हुआ। मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित प्रतिमाएं विशिष्ट हैं। इनमें सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ विशेष महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम मथुरा कला शैली के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों के कन्धे पर बिखरी लटों और सर्पफण के आधार पर आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ की पहचान कर सकते हैं। इसकी विशेषता यह है कि तीर्थंकरों के लांछनों का प्रयोग सर्वप्रथम मथुरा कला शैली के अन्तर्गत ही हुआ।

अध्ययन क्षेत्र से तीर्थंकरों की प्रतिमाएं, देवी प्रतिमाएं, नैगमेष, यक्ष-यक्षी की मूर्तियाँ विद्याधरों की मूर्तियाँ, भक्तगणों की प्रतिमाओं का बहुत कुशलता के साथ अंकन किया गया है। नेमिनाथ के साथ कृष्ण एवं बलराम का अंकन मिलता है।

जैन देवी सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमा कंकाली टीले से मिली है जिससे सरस्वती आन्दोलन का प्रमाण मिलता है।

अनेक आयागपट्टों का सुन्दर अलंकरण भी जैन धर्म में कला का ज्ञान कराती है।

जैन वास्तुकला के सन्दर्भ में भी शूरसेन जनपद से दो मन्दिर एवं स्तूप का साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य मिलता है। सुपार्श्वनाथ के प्रति अर्पित देव निर्मित स्तूप का उल्लेख मिलता है। स्तूप स्थापत्य का दिग्दर्शन एक आयागपट्ट पर दृष्टव्य है जिसका सोपान, वेदिका स्तम्भ, मेधी एवं आधा अण्ड भाग सुरक्षित है। यह अभिलिखित है।

एक अभिलिखित आयागपट्ट पर स्तूप का सुन्दर अंकन दृष्टिगोचर होता है। दो स्तम्भों के मध्य में स्थित स्तूप पर पहुँचने के लिए सोपान, वेदिका एवं तोरण द्वार स्पष्ट है। इसकी पूजा के लिए विद्याधर हाथ में सुपर्णमाला लिए तत्पर हैं।

अध्ययन क्षेत्र में जैन संस्कृति व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होती है। जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था एवं जाति-पाँति को स्वीकार नहीं किया गया है।

विवेच्य क्षेत्र में चारों वर्ण का अस्तित्व था। विवेच्य क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति उत्तम थी। गणिकाओं को भी धर्मदान देने का अधिकार था। लवणशोभिका आदि महिलाओं द्वारा दिया गया आयागपट्ट बहुत महत्वपूर्ण है जिसमें सास-ससुर, माता-पिता एवं पति का नाम भी उल्लिखित है।

फर्ग्यूश नर्तक की पत्नी शिवयशा द्वारा दान में दिया गया एक आयागपट्ट कंकाली टीले से प्राप्त हुआ है। इसमें स्तूप का अंकन प्राप्त

होता है। इसमें नन्दिपाद एवं श्रीवत्स का अंकन दृष्टव्य होता है। स्तूप के अण्ड भाग के मध्य में वेदिका स्तम्भ का भाग दिखायी पड़ता है। इसका नाम उसमें उत्कीर्ण है।

इस आयागपट्ट से यह स्पष्ट होता है कि कुषाणकाल में नर्तकियाँ भी धार्मिक कार्यों में योगदान देती थीं।

विवेच्य क्षेत्र से प्राप्त जैन कलाकृतियों में मूर्तिकार ने आकृतियों को अंकित करके तत्कालीन जैन समाज के साधु, साध्वी, गृहस्थ एवं गृहणी चारों वर्गों की झांकी प्रस्तुत की है। चारो वर्ग का अंकन तीर्थंकर प्रतिमाओं के पादपीठों पर अंकित है। चरण चौकी पर उत्कीर्ण लेखों से यह विदित होता है कि स्त्रियों ने अधिकांश प्रतिमाओं के लिए धर्मदान दिया था।

अध्ययन क्षेत्र में बहुसंख्यक जैन धर्मावलम्बी निम्न वर्गों के थे। जैन धर्म में उन सभी को उसी प्रकार श्रावक-श्राविका माना गया है जैसा उच्च वर्गों के लोगों को स्वीकार किया गया है। उनके साथ कोई भेद-भाव नहीं था। ये सब लोग गृहस्थ थे। जो गृहस्थ जीवन का त्यागकर साधु बन जाते थे उन्हें साधु या साध्वी कहा जाता था। जातिगत वर्ण व्यवस्था पर प्रहार कर समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य समानता स्थापित करने का क्राान्तिकारी कदम उठाने का सर्वाधिक श्रेय जैन धर्म को है।

महावीर स्वामी द्वारा स्थापित साधु-साध्वी परम्परा ने भगवान महावीर के उपदेशों एवं कृतित्व परम्परा को आगे बनाए रखा। जैन गृहस्थों के लिए यह नियम था कि वे विनम्रतापूर्वक साधुजनों की वन्दना करें, वे साधु सांसारिक जीवन में चाहे किसी भी कुल में जन्म लिया हो। महावीर स्वामी की शिक्षाओं की यह एक अनुपम देन है।

जैनधर्म का शूरसेन जनपद में सर्वाधिक योगदान है। कला, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में जैन धर्म का बहुमूल्य योगदान दृष्टिगोचार होता है।

जैन धर्म का एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान समाज में स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाना था। परवर्ती वैदिक काल में नारियों की स्थिति गिर गई थी। इस स्थिति को सुधारने का श्रेय तीर्थंकर महावीर को जाता है। जैन धर्म के सिद्धान्तों में स्त्री और पुरूष के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रखा गया है। विभिन्न कार्यों के सम्पादन में दोनों को समान अधिकार प्रदान किया गया है।

धार्मिक अनुष्ठानों के लिए प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों को सर्वोच्च अधिकार प्रदान किया गया है। नारी को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने के लिए जैन धर्म का विशेष अवदान है।

सत्य और अहिंसा जैन धर्म के आदर्श सिद्धान्त है। विश्व के प्रायः सभी धर्मों में हिंसा को हेय समझा गया, किन्तु उसे त्याज्य नहीं माना जाता है। अहिंसा को धर्म का प्रमुख आधार मानने का मूल श्रेय श्रमण-परम्परा को है। जैन धर्म में अहिंसा को दृढ़ता से अपनाया गया है। अहिंसा के अन्तर्गत भावना और विचार को लेकर भगवान महावीर ने आत्मशुद्धि का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया।

भारतीय संस्कृति के संस्करण पक्ष को जैन धर्म में मान्य अहिंसा ने अविरल प्रभावित किया है। अहिंसा को धर्म का मूल आधार मानकर जैन धर्म ने मानवेतर प्राणियों के लिए भी जीने का अधिकार माना तथा इसे धार्मिक दायित्व के रूप में समाज का कर्तव्य निरूपित किया।

जैन धर्म में अहिंसा की व्याख्या व्यापक स्तर पर की गई। साधु तथा गृहस्थ के लिए अलग-अलग सीमाएँ निर्धारित की गई। गृहस्थों के लिए नियम अधिक कठिन नहीं है। जैन धर्म में अहिंसा को एक नैतिक गुण माना गया है। जब तक स्तर ऊँचा नहीं हो सकेगा। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ नैतिक स्तर है, जिसके आधार पर मानव व्यवहार की समीक्षा की जा सकती है। इससे व्यक्ति के कार्य और नैतिकता की परीक्षा ली जा सकती है। उचित या अनुचित निर्णय व्यक्ति के स्तर पर निर्भर करता

है। सामाजिक स्तरों पर एवं नैतिक निर्णयों में गिरावट आ जाने पर कोई भी समाज, संगठन या राष्ट्र गरिमा के साथ जीवित नहीं रह सकता।

समाज में कुछ ऐसे लोग अवश्य होने चाहिए जो दृढ़ता से नैतिकता का पालन करें। जैन साधु ऐसे ही व्यक्तित्व हैं जो अहिंसा तथा अपरिग्रह के सिद्धान्तों का दृढ़तापूर्वक आचरण करते हैं। जैन मुनियों ने समाज को कितना प्रभावित किया, यह समाज में प्रचलित शाकाहारी भोजन-प्रणाली का देखकर समझा जा सकता है तथा समाज जैन-मुनियों का सम्मान करता है और उनके समान जीवनचर्या अपनाने का प्रयत्न करता है।

साहित्य एवं दर्शन तथा ललितकला के क्षेत्र में भी जैनधर्म का उल्लेखनीय योगदान है। मथुरा में जैन आगमों का संकलन करने के लिए आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में चौथी शताब्दी ई. में एक समिति आहूत की गई।

दर्शन के क्षेत्र में अहिंसा, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, कर्मवाद का सिद्धान्त प्रमुख है। वास्तुकलाओं में भी जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदन है।

जैन धर्म ने आचार-विचार के क्षेत्रों में शील सदाचार तथा पवित्रता की भावनाओं का उन्नयन किया। समता, अहिंसा एवं मैत्री की भावना पर बल देकर भारतीय जीवन-दर्शन को नया सन्देश प्रदान किया। आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था में समृद्धि, व्यवहार, शूचित तथा शान्ति की भावना का संवर्धन कर जैन धर्म ने शूरसेन जनपद को अपना विशिष्ट योगदान दिया।

निष्कर्षात्मक रूप से जैन धर्म शूरसेन जनपद में विशेष उन्नति पथ पर अग्रसर रहा और सभ्यता एवं संस्कृति के विविध क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

(क) मूल ग्रन्थ

1. अंगविज्जा – सं. मुनिपुण्य विजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद; बनारस 1957।
2. अंतगडदसाओं – सं. पी. एल. वैद्य, पूना 1932, अनु. एल. डी. बार्नेट, वाराणसी, 1973।
3. अपराजितपृच्छा (भुवन देव कृत) – सं. पोपट भाई अंबाशंकर मांकड, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, 1950।
4. अमरकोश – अमरसिंह, कृति, भाषा-टीका, रामस्वरूप, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1905।
5. अभिधान-चिन्तामणि (हेमचन्द्र कृत) – सं. हरगोविन्द दास बेचर दास तथा मुनि जिनविजय, भावनगर-1914; भाग-2, 1919।
6. आचार, दिनकर (वर्धमानसूरिकृत) – बम्बई, भाग 2, 1923।
7. आचांरागसूत्र – अनु. एच. याकोबी, सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, खण्ड 22, भाग-1, दिल्ली, 1973।
8. आचार दिनकर – वर्धमान सूरिकृत, भाग-2, बम्बई, 1923।
9. आदिपुराण (जिनसेकृत) – सं. पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थ संख्या 8, वाराणसी, 1963।
10. आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि महत्तर कृत) रतलाम, खण्ड-1, 1928, खण्ड-2, 1929।
11. आवश्यकसूत्र (भद्रबाहुकृत) – मलयगिरि सुरि की टीका सहित, भाग-1, आगमोदय समिति, ग्रन्थ 56, बम्बई, 1928, भाग-2, ग्रन्थ 60।

आवश्यक सूत्र – भाग-1, आगमोदय समिति ग्रन्थ, 56, बम्बई, 1928
आवश्यक सूत्र – भाग-2, आगमोदय समिति ग्रन्थ, 56, सूरत, 1932
आवश्यक सूत्र – भाग-3, देवचन्द लालाभाई जैन पुस्तक द्वारग्रन्थ, 85, सूरत, 1936

12. उत्तराध्ययनसूत्र – अनु. एच. याकोबी, सैक्रेड बुक्स, ऑव दि इस्ट, ख. 45, भाग 2, (ऑक्सफोर्ड 1985), दिल्ली, 1973, स. रतनलाल दोशी।
13. उवासगडसाओ – सं. पी. एल. वैद्य, पूना-1930।
14. कल्पसूत्र (भद्रबाहुकृत) अनु. एच. याकोबी, सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, खण्ड-22, भाग-1, (आकस्फोर्ड 1884), दिल्ली-1973, सं. देवेन्द्र मुनिशास्त्री, 1968।
15 कल्पसूत्र – साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, 1952
16. तिलोयोपण्णति (यतिवृषभ कृत) – सं.ए.एन. उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1943।
17. त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित्र (हेमचन्द्र कृत) – अनु. जॉनसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, खण्ड-1, 1931।
त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, खं. 2, 1937
त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, खं. 3, 1949
त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, खं. 4, 1954
त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, खं. 5, 1962
त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, खं., 6, 1962
18. नायाधम्मकहाओ – सं. वैद्य, पूना 1940
19. निशीथचूर्णि – जिनदासगणि; उपाध्याय कवि अमरमुनि और मुनि कन्हैया लाल, सम्मति ज्ञानपीठ आगरा, 1957–1960।
20. पउमचरिउ (विमलसूरि कृत) – भाग-1, सं. याकोबी, अनु. शान्तिलाल एम. बोरा, प्राकृत टेस्ट सोसायटी, वाराणसी 1962।
21. पद्मपुराण (रविषेणकृत), भाग 1, सं. पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला, ग्रथांक 20, वाराणसी, 1958।

22. परिशिष्ट पर्वन – सं. याकोबी, कलकत्ता, 1932।

23. प्रतिष्ठा सारसंग्रह (वसुनन्दि कृत), पाण्डुलिपि, लाला भाई, दलपत भाई भारतीय संस्कृत विद्या मंन्दिर, अहमदाबाद।

24. प्रतिष्ठा सारोद्धार (आशाधरकृत) – सं. मनोहर लाल शास्त्री, बम्बई, 1971।

25. प्रबन्ध चिन्तामणि (मेरुतुंगकृत) – भाग 1, सं. जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला 13, कलकत्ता, 1940।

26. प्रभावक चरित चन्द्रप्रभ सूरि – सिंधी जैन ग्रन्थ माला, 13, बम्बई 1909।

27. बृहत्संहिता (वराहमिहिर कृत) – सं. ए. झा. वाराणसी, 1959।

28. भगवती सूत्र (गणधर सुधर्मास्वामी कृत) – सं. घेवरचन्द भाटिया, सैलाना, 1966।

29. भागवतपुराण – गीताप्रेस, गोरखपुर।

30. भविष्यपुराण – वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1959।

31. महापुराण (पुष्पदत्त कृत) – सं. पी. एल. वैद्य, मानिक चन्द, दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला 42, बम्बई 1941।

32. मानसार – खण्ड 3, अनु. प्रसन्न कुमार आचार्य, इलाहाबाद।

33. महावीरचरितम् – गुणचन्द सूरि कृत, देवचन्द लालाभाई, जैन, सीरिज 15, बम्बई, 1929।

34. महाभारत – व्यासकृत, क्रिटिकल एडिशन, पूना, अनु., प्रतापचन्द्र राय, कलकत्ता।

35. रघुवंश – कालिदास ग्रन्थावली, सं. पं., सीताराम चर्तुवेदी, काशी 2000 वि.

36. रामचरितमानस – गीताप्रेस; गोरखपुर, 2010 वि.

37. रामायण – गीताप्रेस; गोरखपुर 2024-25 वि.

38. ललित विस्तार – सं. पी. एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, नालन्दा, 1958

39. वसुदेवहिण्डी (संघदास कृत) – खण्ड 1, सं. मुनि श्री पुण्यविजय, आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला 80, भावनगर, 1930

40. वास्तुविद्या – विश्वकर्माकृत, दीपार्णव, सं. प्रभाशंकर औघड़ भाई, सोमपुरा, पालिताणा, 1960

41. विविधतीर्थ कल्प (जिनप्रभसूरि कृत) – सं. मुनि श्री जिनविजय, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला 10, कलकत्ता, 1934।

42. विष्णुपुराण – बम्बई, 1889, अंग्रेजी अनुवाद, एच. एच. विल्सन, लन्दन, 1864-70

43. समराइच्चकहा (हरिभद्र सूरिकृत) – सं. याकोबी, कलकत्ता, 1926

44. समवायांगसूत्र – अनु. घासीलाल, राजकोट, 1962; सं. कन्हैयालाल, दिल्ली-1966

45. साधनमाला – गायकवाड़, ओरियण्टल सीरिज, खण्ड-41, बड़ौदा, 1928

46. स्थानांगसूत्र – सं. घासीलाल, राजकोट 1964।

47. हरिवंश पुराण (जिनसेन कृत) – सं. पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रथांक 27, वाराणसी 1962।

(ख) आधुनिक ग्रन्थ

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण
   – भारतीय कला, वाराणसी, 1966
   – इण्डिया एज नोन टू पाणिनि, लखनऊ 1935
   – इण्डियन आर्ट, वाराणसी, 1965
   – मथुरा कला, अहमदाबाद, 1964
   – गुप्ता आर्ट, लखनऊ, 1948
   – कला और संस्कृति, इलाहाबाद, 1952
   – मास्टर पीसेज ऑफ मथुरा स्कल्पचर, वाराणसी, 1985
   – प्री – कुषाण आर्ट ऑफ मथुरा, वाराणसी, 1966

2. अग्रवाल, पृथ्वी कुमार – गुप्तकालीन कला एवं वास्तु, वाराणसी, 1994

3. अग्रवाल, उर्मिला – नार्थ इण्डियन टेम्पल स्कल्पचर्स, नई दिल्ली 1995

4. अवस्थी, अवध विहारी लाल – प्राचीन भारतीय भूगोल, लखनऊ, 1972
– प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, लखनऊ, 1964
5. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल – पतजंलि कालीन भारत, पटना 1963
6. आर. विलियम्स – जैन योग, लन्दन, 1963
7. ईलियट और डाउसन – हिस्ट्री ऑव इण्डिया एज़ टोल्ड बाई इट्स हिस्टॉरियन्स, भाग 1-3, पेरिस, 1861
8. ई.सी. सचाऊ – अलबरूनी इण्डिया, भाग-2, लन्दन, 1904
9. ई.बी. हैवेल – दि ऐंश्येट एण्ड मेडिवल आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया, लन्दन, 1915।
10. उपाध्याय, वासुदेव – प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पटना 1972
– मूर्ति विज्ञान, वाराणसी, 1972
– दि सोशियों – रिलिजस कण्डीशन ऑव नार्थ इण्डिया, वाराणसी, 1964
– गुप्त साम्राज्य का इतिहास, ख. 1, इलाहाबाद, 1957
11. उपाध्याय, भरतसिंह – बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, 1961
12. उपाध्ये, ए. एन. – महावीर एण्ड हिज फिलॉसफी ऑव लाइफ, गुहाटी 1965
13. ओझा, गौरीशंकर – जैन मूर्तिकला का शिल्प वैभव, दिल्ली, 1968
14. कनिघंम ए. – ऐंश्येंट ज्यॉग्राफी ऑव इण्डिया कलकत्ता, 1924
15. काला, सतीश चन्द्र – भारतीय मृतिका, इलाहाबाद, 1972

16. कान्तिसागर मुनि — खण्डहरों का वैभव, 1959

17. कुमारस्वामी, ए.के. — हिस्ट्री ऑफ इण्डियन इण्डोनेशियन आर्ट, लन्दन, 1927

— कैटलॉग ऑफ इण्डियन कलेक्शन्स इन दि म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन, 1923

— इण्ट्रोक्शन टू इण्डियन आर्ट, दिल्ली 1969

18. काणे, पी.वी. — हिस्ट्री ऑफ द धर्मशास्त्राज, पूना, 1930

19. कोशाम्बी, डी.डी. — द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ ऐंश्येंट इण्डिया इन हिस्टॉरिकल आउट लाइन, लन्दन, 1965

20. कुमार, जितेन्द्र एवं गिर्राज प्रसाद— कैटलॉग आव जैन एण्टीक्वीटीज गर्वनमेन्ट म्यूजियम मथुरा, मथुरा 2003

21. कुमार, जितेन्द्र — 'मास्टर पिसेज ऑफ मथुरा म्यूजियम', गर्वनमेन्ट म्यूजियम, मथुरा, 1989

— सं. गुप्तकालीन मथुरा, राजकीय संग्रहालय मथुरा, 2000

22. कुमार जितेन्द्र एवं रावत, बी.सी. — बौद्ध-जैन प्रतिमा-लक्षण, लखनऊ, 2009

23. कुमार, कला (सं) — श्रमण संस्कृति, सिद्धान्त और साधना, आगरा, 1971

24. क्रैमरिश, स्टेला — इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता 1933

25. गाइल्स, एम.ए. — दि ट्रेवेल्स ऑफ फा-हियान, आर रिकॉर्ड ऑफ बुद्धिस्टिक किंग्डम्स, कैम्ब्रिज, 1923

26. गुप्ते, आर.एस. — आइक्नोग्राफी ऑफ दि हिन्दू, बुद्धिस्ट एण्ड जैन्स, बॉम्बे, खण्ड-1, 1972

27. घोष, अमलानन्द (सं) – जैन कला एवं स्थापत्य, 3 खण्ड नई दिल्ली, 1975

28. चन्द्र, मोती – सार्थवाह, पटना, 1953

29. चन्द्र, प्रमोद – स्टोन स्कल्पचर इन दि इलाहाबाद म्यूजियम, बम्बई, 1970

30. चन्दा, आर.पी. – मेडिवल इण्डियन स्कल्पचर इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन, 1936

31. चतुर्वेदी, रेखा – जैन आगमः इतिहास एवं संस्कृति दिल्ली, 2000

32. चौधरी, गुलाबचन्द्र – पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव नार्दन इण्डिया, फ्रॉम जैन सोर्सेज, अमृतसर 1963

33. चौधरी, विनेयेन्द्रनाथ – बुद्धिस्ट सेन्टर्स इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1964

34. जोशी, नीलकण्ठ पुरूषोत्तम – प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पटना, 1977

– मथुरा स्कल्पचर, मथुरा, 1977

– यूज ऑव ऑस्पिशस सिम्बल्स इन द कुषाण आर्ट एट मथुरा, नागपुर 1965

35. जिनप्रभसूरि – विविधतीर्थकल्प, अनु. अगरचन्द नाहटा भँवर लाल नाहटा, राजस्थान, 1978

36. जोहरापुरकर, विद्याधर (सं) – जैन शिलालेख संग्रह, भाग-4, वाराणसी, 1964

37. जेम्स, बर्गेस – दिगम्बर जैन आइनोग्राफी, वाराणसी 1978

38. जेम्स, फरग्यूसन – हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इस्टर्न आर्किटेक्चर, लन्दन 1811

39. जैन, हीरालाल – भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, 1962

40. जैन, बलभद्र – भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ भाग-1, बम्बई, 1974

41. जैन, जगदीश चन्द्र – लाइफ इन ऐंश्येंट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, बम्बई, 1847

– भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, वाराणसी, 1952

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, 1965

42. जैन, कमल – प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन एक अध्ययन, वाराणसी, 1988

43. जैन, ज्योति प्रसाद – दि जैन सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1956

– रिलिजन एण्ड कल्चर ऑव दि जैन्स, नई दिल्ली, 1975

– उत्तर प्रदेश और जैनधर्म, लखनऊ, 1976

44. जैन, कैलाश चन्द्र – लॉर्ड महावीर एण्ड हिज टाइम्स, दिल्ली, 1975

45. जैन, प्रताप चन्द्र – उत्तर भारत का दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र श्री शौरीपुर बटेश्वर, आगरा 1978

46. जैन, प्रेमसुमन – जैन धर्म की सांस्कृतिक विरासत, वाराणसी, 2005

47. जैन, के. सी. – जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर, 1963

48. जैकोबी, हरमन – स्टडीज इन जैनिज्म, अहमदाबाद, 1946

49. जैन, शशिकान्त – हाथी गुम्फा इन्स्क्रिप्शन्स ऑव खारवेल, दिल्ली, 1971

50. टामस, वाटर्स – ऑन युवान च्वाँग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, लन्दन 1904

51. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद – जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981
– जैन आइकनोग्राफी, वाराणसी, 1983
– खजुराहो का जैन पुरातत्व, खजुराहो, 1987
– अम्बिका इन जैन आर्ट एण्ड लिट्रेचर, दिल्ली, 1989

52. तिवारी, मारूति नन्दन प्रसाद गिरि, कमल – मध्यकालीन भारतीय मूर्ति कला, वाराणसी, 1991

53. तिवारी, मारूति नन्दन प्रसाद एवं कमल गिरि – मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, वाराणसी, 1997

54. थपल्याल, किरण कुमार – स्टडीज इन ऐंश्येन्ट इण्डियन सील्स, लखनऊ, 1972

55. थापर, रोमिला – अशोक एण्ड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्याज, आक्सफोर्ड, 1963

56. दिवाकर, एस.सी. – ग्लिम्पस ऑव जैनिज्म, दिल्ली, 1970
– रिलिजन एण्ड पीस, मथुरा, 1962

57. दास, रायकृष्ण – भारतीय मूर्तिकला, काशी, 1962

58. दासगुप्त एस. एन. – फन्डामेन्टल्स ऑव इण्डियन आर्ट, बम्बई, 1954

59. नागर, मदनमोहन – पुरातत्व संग्रहालय मथुरा की परिचय पुस्तक, इलाहाबाद, 1947

60. देव, एस. बी. – हिस्ट्री ऑव जैन मोनैकिज्म, पूना, 1956

61. दोशी, बेचरदास – जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग-1, वाराणसी, 1966

62. निगम, एम. एल. – गिलम्पसेस ऑव जैजिन्म थ्रो आर्कियोलॉजी इन उत्तर प्रदेश, बम्बई, 1968

63. पॉल, आर. के. – साउथ पान्चाल, कानपुर, 1985

64. पुरी, बी.एन. – इण्डिया अण्डर दि कुषानाज मुम्बई, 1963

65. पाण्डेय, विमल चन्द्र – प्राचीन भारत का इतिहास, आगरा, 1963

66. पाण्डेय, राजबली – हिन्दू धर्मकोश, वाराणसी, 1978

– प्राचीन भारत, वाराणसी, 1962

67. प्रेमी, नाथूराम – जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, 1956

68. पार्जिटर, एफ. ई. – ऐंश्येन्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, दिल्ली, 1963

69. पिशल – प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

70. फ्यूरर – मथुरा इन्स्क्रिप्शन्स, 1888-1891

71. प्लिनी – नेचुरल हिस्ट्री, भाग-6

72. पुरी., बी.एन – जैन्जिम इन मथुरा इन दि अर्ली सेन्चुरीज ऑफ दि क्रिश्चियन एरा, महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली, बम्बई, भाग-1, बम्बई, 1968

73. बील. एस. – सि - यू - कि. बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑव दि वेस्टर्न वर्ल्ड, ह्यवेनसांग की मूल चीनी भाषा से अनुवाद, खं. 2, लन्दन 1906

– दि लाइफ ऑफ ह्यवेनसांग, लन्दन, 1914

74. बोस. पी. एन. – प्रिन्सपल्स ऑव इण्डियन शिल्पशास्त्र, लाहौर, 1926

75. बनर्जी, जे. एन. – डवलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता, 1956

– 'जैन आईकन्स', दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, सं. मजूमदार, आर. सी., बाम्बे, 1960

– आइक्नोग्राफी, दि क्लसिक एज, सं. मजूमदार, आर.सी., बाम्बे, 1962

76. ब्रुन, क्लाज – दि जैन इमेजेज ऑफ देवगढ़, लीडेन, 1969

77. ब्राउन, पर्सी – 'इण्डियन आर्किटेक्चर' (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड्स) बाम्बे, 1971

78. बुलर, जार्ज – दि इण्डियन सेक्ट ऑफ जैनाज, कलकत्ता, 1963

79. ब्यूहलर, जी – ऑन दि इण्डियन सेक्ट ऑव दि जैनाज, लन्दन, 1903

80. बाशम, ए. एल. – ए कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1975

– दि वान्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1954

81. भट्टाचार्य एच. एस. – दि फिलॉसफी ऑव दि जैनाज, मुम्बई, 1958

– डिवाइनिटी इन जैनिज्म, मद्रास, 1925

82. भट्टाचार्य, बी.सी. – दि जैन आइकनोग्राफी, लौहार, 1930

– इण्डियन इमेजेज, कलकत्ता, 1954

83. भगवदत्त – भारतीय संस्कृति का इतिहास, दिल्ली, 1956

84. माथुर, विजेयन्द्र कुमार – ऐतिहासिक स्थानावली, नई दिल्ली, 1969

85. मैक्क्रिंडल – ऐश्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिट्रेचर, कलकत्ता, 1901

– ऐश्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, 1906

– ऐश्येन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी, कलकत्ता, 1927

86. मजूमदार., आर.सी. – द इज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई एवं पुसालकर, ए. डी. 1951

– द क्लासिकल एज, बम्बई 1954

87. मेकडॉनल्ड एवं कीथ – वैदिक इण्डेक्स एण्ड नेम एण्ड सब्जेक्ट्स भाग-2, वाराणसी, 1958

88. मिश्र, रामगोपाल – तपोभूमि – प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, प्रयाग, 1923

89. मिश्र, जयशंकर – ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968

90. मीत्तल, प्रदुदयाल – ब्रज की कलाओं का इतिहास, मथुरा 1975

– ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, मथुरा, 1966

91. मुकर्जी, आर. के. – चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, दिल्ली, 1966

– अशोक, दिल्ली, 1974

– प्राचीन भारत, दिल्ली, 1964

92. मालव, रवीन्द्र (सं.) – तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ, शिवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, 1977

93. मिश्र, इन्दुमती – प्रतिमा विज्ञान, भोपाल, 1969

94. मेहता, मोहनलाल – जैन धर्म - दर्शन, वाराणसी, 1973

95. मुखर्जी, बी. एन. – दि इकॉनामिक फैक्टर्स इन कुषाण हिस्ट्री, कलकत्ता, 1970

96. यादव, झिनकू – जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा, वाराणसी 1981
– समराइच्चकहा; एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1977

97. रायचौधरी, एच.सी. – पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1953
– प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1976

98. राय, निहाररंजन – मौर्य ऐंड शुंग आर्ट, कलकत्ता, 1945

99. रावत, बी. सी. – 'जैन प्रतिमा-शिल्प', रायबरेली, 2008
– जैन प्रतिमा-कला, (उत्तर प्रदेश के आलोक में) दिल्ली, 2010

100.रावत, बी.सी. एवं सिंह, जगपाल – मध्य प्रदेश की शैलचित्र कला, दिल्ली, 2013

101.रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार – लखनऊ संग्रहालय की जैन प्रतिमाएँ लखनऊ, 2002
– 'नमो अहरतान — अर्हतोपूजाये'; मणिभद्र, श्री आत्मानन्द सभा भवन, जयपुर, 1982

102.लाहा, विमलचरण – प्राचीन भारत का ऐतिहासिक, भूगोल, लखनऊ, 1972

103.लेगे, जेम्स – दि ट्रेवेल्स ऑव फाह्यान, दिल्ली, 1973

104.ल्यूज-डे-ल्यू, जे.ई. वान – दि सीथियन पिरियड, लिडेन 1949

105.वाजपेयी, कृष्णदत्त – मथुरा परिचय, मथुरा, 1950
– भारत के सांस्कृतिक केन्द्र मथुरा, 1980
– ब्रज का इतिहास प्रथम खण्ड, मथुरा, 1955

– ब्रज का इतिहास द्वितीय खण्ड, मथुरा 1944

– जैन कला एवं पुरातत्व, वाराणसी, 1976

– भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, 1990

– मथुरा, लखनऊ, 1955

– युगों – युगों में उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1955

106.विजयमूर्ति (सं.) – जैन शिलालेख संग्रह, भाग-2 बम्बई, 1952

107.वोगल, जे. पी. एच. – कैटलाग ऑव दि आर्कियोलॉजिकल म्यूजियम ऐट मथुरा, इलाहाबाद, 1910

108.शर्मा, रमेश चन्द्र – मथुरा संग्रहालय परिचय, मथुरा, 1972

– बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ मथुरा, दिल्ली, 1984

– मथुरा आर्ट एण्ड म्यूजियम, मथुरा, 2003

– दि स्पेलन्डर ऑव मथुरा आर्ट एण्ड म्यूजियम, नई दिल्ली, 1994

109.शर्मा, वी.के. – हिस्ट्री ऑव जैनिज्म विद स्पेशल रिफ्रेन्स टु मथुरा, दिल्ली, 2002

110.शर्मा, ब्रजेन्द्र – जैन प्रतिमाएँ, दिल्ली 1979

– शोसल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1972

111.शाह, चिमनलाल – उत्तर भारत में जैन धर्म, राजस्थान, 1990

112.शाह, यू. पी. – स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस, 1955
– अकोटा ब्रोन्जेज, बम्बई, 1959
– जैन प्रतिमाएँ, दिल्ली, 1976

113.शाह, सी. जे. – जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, लन्दन, 1932

114.शास्त्री, कैलाश चन्द्र – भारतीय धर्म एवं अहिंसा, दिल्ली, 1983
– जैन धर्म, वाराणसी, 1966

115.शास्त्री, देवेन्द्र मुनि – साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, 1970

116.शास्त्री, नेमिचन्द्र – भारतीय साहित्य के इतिहास में जैन वागमय का अवदान, खण्ड-1, सागर, 1982

117.शिव प्रसाद – जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन (विविधतीर्थ कल्प के सन्दर्भ में) वाराणसी, 1991

118.शुक्ल, चिन्तामणि – मथुरा जनपद का राजनैतिक इतिहास, खण्ड-1, मथुरा, 1955

119.शुक्ल, द्विजेन्द्र नाथ – प्रतिमा विज्ञान, लखनऊ, 1956
– भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, 1968

120.सरस्वती, एस. के. – ए सर्वे ऑफ इण्डियन स्कल्पचर कलकत्ता, 1957

121.सरस्वती, राघवाचारी – महावीर, हिज लाइफ एण्ड टीचिंग्स, अहमदाबाद, 1930

122.स्मिथ, वी. ए. – अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1924
– दि जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वीटीज ऑफ मथुरा, इलाहाबाद, 1901

123.सिंह, अशोक कुमार – 'उत्तर प्रदेश के प्राचीनतम् नगर; नई दिल्ली, 1988

124.हण्डीकी, के.के. – यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, शोलापुर, 1949

125.हस्तीमल – जैन धर्म का मौलिक इतिहास, जयपुर, 1971

126.हर्टल, हर्बर्ट – डाई कुषाण – होरिजोण्टे इन ह्यूगल वान, सोंख (मथुरा) इण्डोंलोजेण्टांग्ग, 1971, बिज्बेडेन, 1973

– सम रिजल्टस ऑव दि एक्शकेवेशन्स ऐट सोंख : ए प्रीलिमनरी रिर्पोट जर्मन स्कालर्स ऑन इण्डिया, भाग-2, नई दिल्ली, 1976

127.हैवेल, ई.बी. – 'इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग', द्वितीय संस्करण, लन्दन, 1928

128.त्रिपाठी, राममूर्ति – जैन संस्कृति की विशेषताएँ, राजस्थान, 1942

129.श्रीवास्तव, ए. एल. – श्रीवत्स : भारतीय कला का एक मांगलिक प्रतीक, इलाहाबाद, 1983

– भारतीय कला प्रतीक, इलाहाबाद, 1989

130.श्रीवास्तव, वी. एन. – सम इन्टरेस्टिंग जैन स्कल्पचर्स इन दि स्टेट म्यूजियम, लखनऊ, 1972

131.श्रीवास्तव, बी. – ट्रेड एण्ड कॉमर्स इन एंश्येन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1983

132.श्रीवास्तव, अशर्फीलाल – श्रीवत्स, इलाहाबाद, 1983

133.श्रीनिवासन, डी.एम. (सं.) – मथुरा – दि कल्चरल हेरिटेज, दिल्ली 1989

(ग) शोध पत्र

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण — ए नोट ऑफ दि गाड नैगमेष, दि जर्नल ऑव दि यूनाइटेड प्रॉविंशियल सोसायटी, खं. 1,2, पृष्ठ 68-73, लखनऊ, 1947

   — मथुरा आयागपट्टज; जर्नल ऑव यू. पी. हिस्टॉरिकल सोसायटी, ख. 16, भाग-1, पृष्ठ 58-61, 1943

   — कैट लाग ऑव दि मथुरा म्यूजियम, जर्नल ऑव यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी, ख. 20, भाग 1,2, 1947

2. उपाध्ये, ए. एन. — जैन कला की आचारिक पृष्ठ भूमि, जैन कला और स्थापत्य, खण्ड 1, पृष्ठ 45, दिल्ली, 1975

3. कोठिया, दरबारी लाल — श्रमण संस्कृति की भारतीय संस्कृति को देन; जैन भास्कर सिद्धान्त, अंक 2, आरा, 1971

4. गांगुली, कल्याण कुमार — सम सिम्बॉलिक रिप्रेजेन्टशन्स इन अर्ली जैन आर्ट; जैन जर्नल, ख. 1, अंक 1, पृष्ठ 31-36, जुलाई 1966

5. चन्दा, आर.पी. — 'दि श्वेताम्बर एण्ड दिगम्बर इमेजेज ऑफ दि जैन्स', ऑर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, नई दिल्ली, 1927-26

6. जायसवाल, के.पी. — जैन इमेज ऑव मौर्य पिरियड, जर्नल ऑव दि बिहार, उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड-23, भाग-1, पृष्ठ 130-132, 1937

7. जोशी, नीलकंठ पुरूषोत्तम रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार – कंकाली की पुरा सम्पदा; जैन निबन्ध माला, आनन्द संस्थान, रामपुर, 1977

8. जैन, कुन्दन लाल – उत्तर प्रदेश से प्राप्त शिलालेखों में जैन सन्दर्भ; ऋषभ सौरभ, पृ. 142-152, दिल्ली 1998

9. जैन, जे.एन. – 'सम नोट्स ऑन दि दिगम्बर जैन आइक्नोग्राफी', इण्डियन एन्टीक्वेरी, 1904

10. जैन, ज्योति प्रसाद – जेनिसिस ऑव जैन लिट्रेंचर एण्ड दि सरस्वती मूवमेण्ट; संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक 9., पृ. 30, जून 1972

– देवगढ़ और उसका कला वैभव; जैन एण्टिक्वेरी, खं: 21, अंक 1 जून 1955

– उत्तर प्रदेश में जैन धर्म का उदय और विकास; भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ, ख. 6, लखनऊ, 1975

– जैन कला का उद्गम और आत्मा; जैन कला एवं स्थापत्य; खं. 1, दिल्ली 1975

11. जैन, भागचन्द्र – जैन धर्मः इतिहास और परम्परा प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, अंक 43, पृ. 5-8, सितम्बर, 2005

12. जैन, रामजीतः – इतिहास के पन्नों में शौरीपुर बटेश्वर; प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धारः अंक 13, पृ. 39-40, लखनऊ, जनवरी, 2002

13. जैन, उषाकिरण – जैन चित्रकला, 'प्राचीन तीर्थ जीर्णाद्धार', अंक 36, पृ. 17-20, लखनऊ, नवम्बर-दिसम्बर, 2004

14. जैन, राजाराम — शौरसेनी प्राकृत का उद्गम और जैन साहित्य को उसका अवदान; ऋषभ सौरभ, पृ. 107-124, दिल्ली, 1998

15. जैन, अनेकान्त कुमार — राग को भी हिंसा मानते थे, महावीर, दैनिक जागरण, कानपुर, अप्रैल 2006

16. तिवारी, मारूति नन्दन प्रसाद — सरस्वती इन इण्डियन आइक्नोग्राफी, भवन्स जर्नल, 1972

— *ए ब्रीफ सर्वे ऑफ दि आइक्नोग्राफी* डेटा ऐट कुंभारिया, नार्थ गुजरात, सम्बोधि, खं. 2, अं. 3, 1973

— ओसियां से प्राप्त जीवन्त स्वामी की अप्रकाशित मूर्तियाँ, विश्व भारती, खण्ड 14, अंक 3, 1973

— आइक्नोग्राफी ऑव यक्षी सिद्धादियका जर्नल ऑव ऐशियाटिक सोसाइटी, खं. 15, अं. 1-4, 1973

— ऐन अनपब्लिश्ड जिन, इमेज इन दि भारत कला भवन, वाराणसी, विश्वेस्वरानन्द इण्डोलॉजिकल जर्नल, खं. 15, अं. 1-2, 1975

— भारत कला भवन का जैन पुरातत्व; अनेकान्त वर्ष, अं. 2, पृ. 51, 52, 58, जून 1971

17. नागार्च, बिहारी लाल — शूरसेन जनपद की जैन विरासत; ऋषभ सौरभ, पृ. 97-106, दिल्ली, 1998

18. निगम, एम. एल. — इम्पैक्ट ऑव जैनिज्म ऑन मथुरा आर्ट; जर्नल ऑव यू.पी. हिस्टॉरिकल सोसायटी, खं. 10, भाग, 1, पृ. 7-12, 1961

19. नाहर, पी.सी. – जैन इन्स्क्रिप्शन्सः भाग 1; जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला, भाग 8, कलकत्ता 1918

20. प्रेमी, फूलचन्द जैन – मथुरा का सुप्रसिद्ध सरस्वती आन्दोलन और उसका प्रभावः श्रुतसंवर्धिनी, अंक 10, पृ. 11-12, लखनऊ, जनवरी, 2005

21. पुरी, बी. एन. – जैनिज्म इन मथुरा इन द अर्ली सेंन्चुरीज ऑव दि क्रिश्चियन एरा, महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वाल्यूम, 156 61 मुम्बई, 1968

22. भण्डाकर, डी. आर. – जैन आइकनोग्राफी; आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, 1905-06; कलकत्ता 1908

23. ब्यूहलर, जी – दि दिगम्बर जैनाज, इण्डियन एण्टिक्वैरी, खं. 7, पृ. 28-29, 1978

– न्यू जैन इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा, एपिग्राफिया इण्डिका, खं. 1, कलकत्ता, 1892, पृ. 393-97

– स्पेसिमेन्स ऑव जैन स्कलचर्स फ्राम मथुरा, एपिग्राफिया इण्डिका, खं. 2, कलकत्ता 1894, पृ. 311-22

24. मित्रा, देबला – मथुरा, जैन कला एवं स्थापत्य खं. 1, दिल्ली 1975

25. रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार – नमो अरहान – अर्हतोपूजाये मणिभद्रः श्री आत्मानन्द सभा भवन, जयपुर, 1982

26. राय, राम जी – प्राकृत भाषा और जैन धर्म-दर्शन, श्रुत संवर्धिनीः अंक 10, 11 पृ. 14-16, 7-11, लखनऊ, जनवरी-फरवरी, 2005

27. रावत, बी. सी. – सिरोनी खुर्द : जैन प्रतिमा केन्द्र, प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ संरक्षिणी महासभा, लखनऊ, अंक 4-5, नवम्बर, 2005

– 'अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता' प्राचीन तीर्थ संरक्षिणी महासभा, लखनऊ, अंक 4-8, अप्रैल, मई, 2006

– 'कुचदो की जैन कला-कृतियाँ', संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक 55-56, जून-दिसम्बर, लखनऊ, 1995

– 'जैन प्रतिमा-कलाः पृष्ठभूमि एंव परम्परा', प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, श्री भारतीवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ संरक्षिणी, महासभा प्रकाशन, लखनऊ, वर्ष 5, अंक 65 दिसम्बर, 2007

– 'आयागपट्ट : एक ऐतिहासिक अध्ययन' प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ संरक्षिणी, महासभा प्रकाशन, लखनऊ, वर्ष 6, अंक 67

– 'उत्तर प्रदेश में जैन प्रतिमा का उद्भव' प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ संरक्षिणी, महासभा प्रकाशन, लखनऊ, वर्ष 6, अंक 74

– ''प्राचीन साहित्य में प्रतिबिम्बित तीर्थंकर ऋषभ'', प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ संरक्षिणी महासभा, लखनऊ, वर्ष 10 अंक 2 (116), नवम्बर, 2012

28. वाजपेयी, कृष्णदत्त
– जैन इमेज ऑफ सरस्वती इन लखनऊ म्यूजियमः जैन एण्टिक्वेरी, पृ. 1-4, 1946
– मथुरा के जैन वेदिका स्तम्भः भास्कर जैन सिद्धान्त, भाग-2, आरा, 1953
– भारतीय वास्तुकला के विकास में जैन धर्म का योगदान; भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ; खं. 4, 1974

29. शाह. यू.पी.
– बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक 9, पृ. 1-14, जून 1972
– ए यूनिक जैन इमेज ऑव जीवन्त स्वामी, जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट ऑव बड़ोदा, ख. 2, पृ. 72-7, 1951-52

30. शुक्ल, चन्द्रशेखर
– कलश की अवधारणाः दैनिक जागरण, लखनऊ 4 नवम्बर, 1998

31. शर्मा, आर.सी.
– जैन स्कल्पचर्स ऑव दि गुप्त एज इन दि स्टेट म्यूजियम लखनऊ; श्री
– महावीर जैन विद्यालय स्वर्ण जयन्ती, अंक 1, पृ. 146
– ब्रज का प्राचीन जैन तीर्थ, जीर्णोद्धार, अंक 22, पृ. 2-4, लखनऊ, जून 2003

32. शर्मा बृजेन्द्र नाथ
– विदेशी संग्रहालय में महत्वपूर्ण प्रतिमाएं; पं. कैलाश चन्द्र, अभिनन्दन ग्रन्थ, खं. 4, पृ. 353, गुजरात।

33. शाह, यू.पी.
– 'आइक्नोग्राफी ऑव दि जैन गॉडेस अम्बिकाः जर्नल ऑव दि यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, खं. 9, 1940

34. शाह, यू.पी. – 'आइक्नोग्राफी ऑव दिसिक्सटीन जैन महाविद्यायाज जर्नल ऑव दि ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खं. 1, 1951

35. सिंह, संगीता – कंकाली टीले की जैन कलाकृतियाँ; प्राचीन तीर्थ जीणोद्धार; अंक 42, पृ. 20-21, लखनऊ जुलाई-अगस्त, 2005

– शौरीपुर की जैन मूर्तियाँः प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, अंक 47, पृ. 16, लखनऊ, फरवरी-मार्च 2006

– सोंख का जैन पुरातत्वः प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार; अंक 49, पृ. 21, लखनऊ जून-जुलाई, 2006

– कंकाली से प्राप्त जैन पुरातत्व में स्त्रियों का योगदान, प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, अंक-11 (113) लखनऊ, जुलाई, 2012

– शूरसेन जनपद में जैन संस्कृति की विशेषताएँ, अनुशीलन, अंक-XXXIX, वाराणसी, 2012

36. त्रिपाठी राममूर्ति – जैन संस्कृति की विशेषताएं, कर्मयोगीश्री केसरी मल जी सुराणा-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 144, राजस्थान, 1982

37. श्रीवास्तव, ए. एल. – आयागपट्ट! जैन पूजा के प्रथम सोपान; नवनीत वर्ष 29, अंक 12 दिसम्बर, 1980

(घ) रिपोर्ट्स एवं गजेटियर

1. कनिंघम, अलेक्जेण्डर – आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, भाग, I, III, XVII, XX, वाराणसी, 1863
2. कार्लाइल, ए.सी. एल – आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, भाग-IV, 1871-72
3. ग्राउस, एफ. एस. – मथुराः डिस्ट्रिक्ट मेमोआर, मथुरा, 1880
4. जोशी, ई.बी. – गजेटियर ऑव इण्डिया, लखनऊ, 1968
5. नेविल, एच, आर. – अलीगढ़ – गजेटियर, भाग-VI, इलाहाबाद, 1909
6. फ्यूरर ए. – आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, नार्थ – वेस्टर्न प्रॉविन्सेज एण्ड अवध भाग -VI, इलाहाबाद, 1891
7. वोगल, जे.पी.एच. – मथुरा स्कूल ऑव स्कलाप्चर्सः आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, 1909, 1910

(ङ) शोध पत्रिकाएं

1. संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, लखनऊ।
2. प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार, लखनऊ।
3. श्रुत संवर्धिनी, लखनऊ।
4. जर्नल ऑव दि यू.पी. हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ।
5. जैन एण्टीक्वेरी, आरा।
6. जैन सन्देश, लखनऊ।
7. पुरातत्व, बुलेटिन ऑव इण्डियन आर्कियोलॉजिलक सोसायटी, नई दिल्ली।
8. प्राग्धारा, लखनऊ।

9. महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर।
10. जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा।
11. जैन जर्नल, कलकत्ता।
12. श्रमण, वाराणसी।
13. नव भारत टाइम्स, दिल्ली।
14. संस्कृति-सन्धान, वाराणसी।
15. जैन, निबन्धमाला, रामपुर।
16. शोधांक, मथुरा।
17. एपिग्राफिया इण्डिका, नई दिल्ली।
18. अनेकान्त, नई दिल्ली।
19. अहिंसा वाणी, नई दिल्ली।
20. प्राची ज्योति, कुरूक्षेत्र।
21. जैन-विज्ञान भास्कर, आरा।
22. नव उत्कर्ष, लखनऊ।
23. बुलेटिन ऑव म्यूजियम एण्ड ऑर्कियोलॉजी इन यू.पी., लखनऊ।
24. ऋषभ सौरभ, दिल्ली।
25. ज्ञान-प्रवाह, वाराणसी

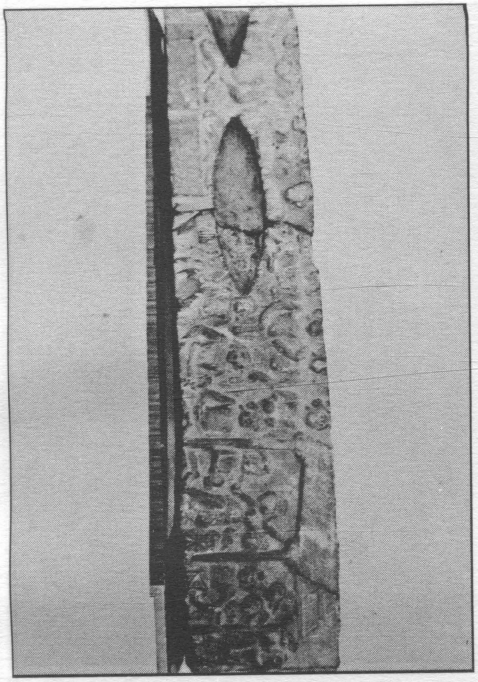

1. ऋषभदेव की सभा में नीलान्जना, द्वितीय शती ई. पू. कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र., राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 354

2. आयागपट्ट प्रथम शती ई. पू., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 250

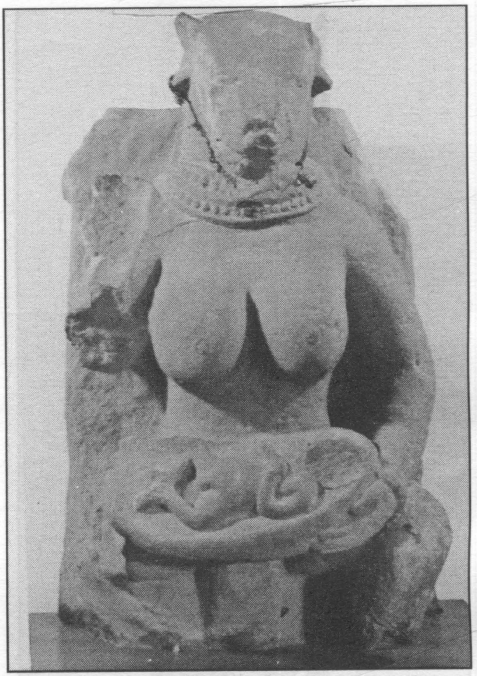

3. अजमुखी हरिनैगमेषी, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र., राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. 00.E.2

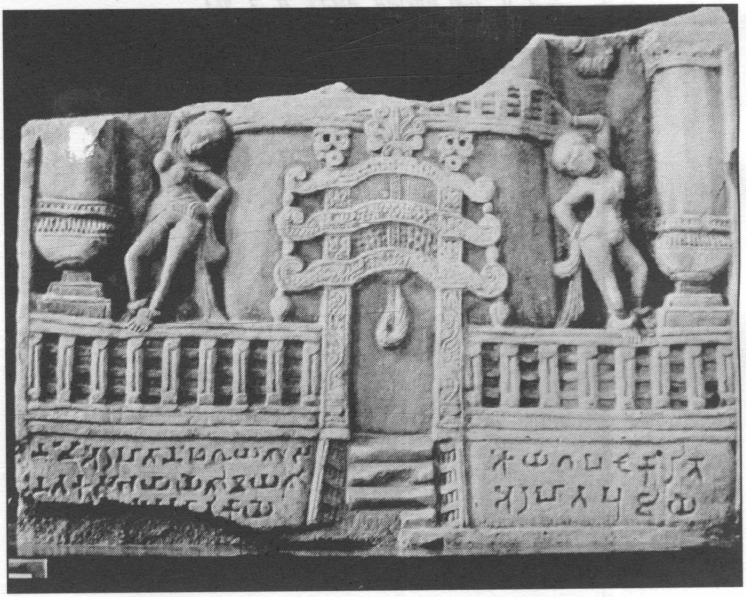

4. शिवयशा का आयागपट्ट, प्रथम शती. ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 255

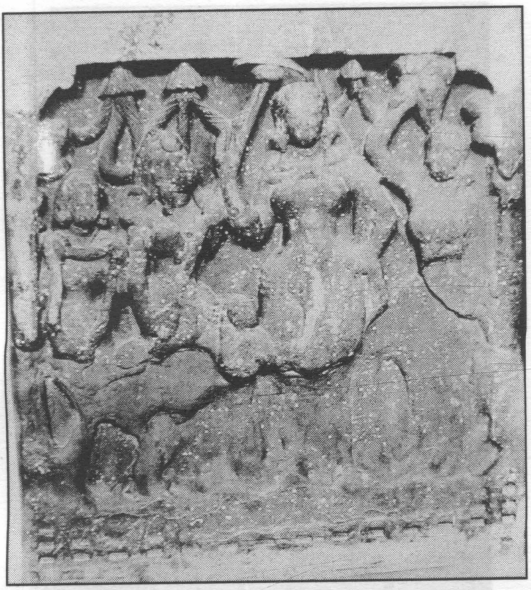

5. अमोहिनी आयागपट्ट, सं. 72-15 ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. 1

6. गणिका लवणशोभिका की पुत्री वसु द्वारा स्थापित आयागपट्ट, कुषाणकालीन, कंकाली टीला, मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. 00.Q.2

7. जैन सर्वतोभद्रिका, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र., राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. OOB.67

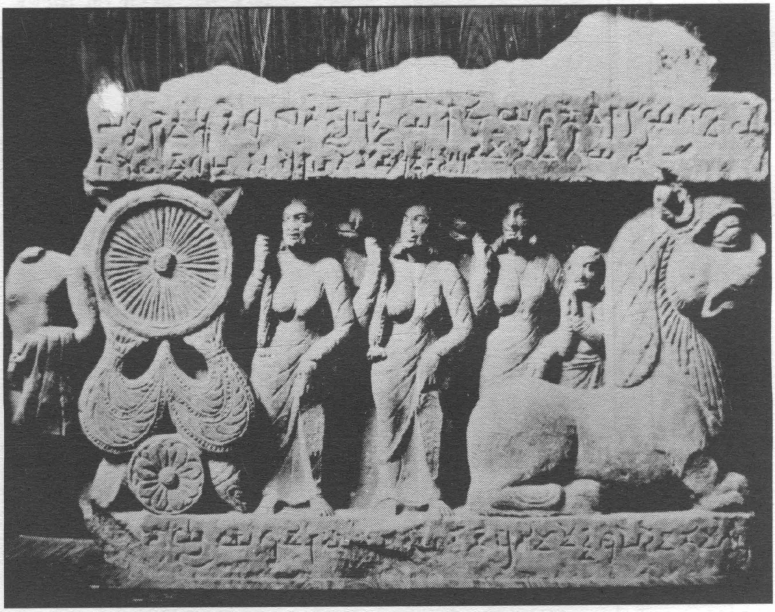

8. तीर्थंकर प्रतिमा की चौकी, 127 ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 20

9. अभिलिखित जैन सरस्वती, 132 ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 24

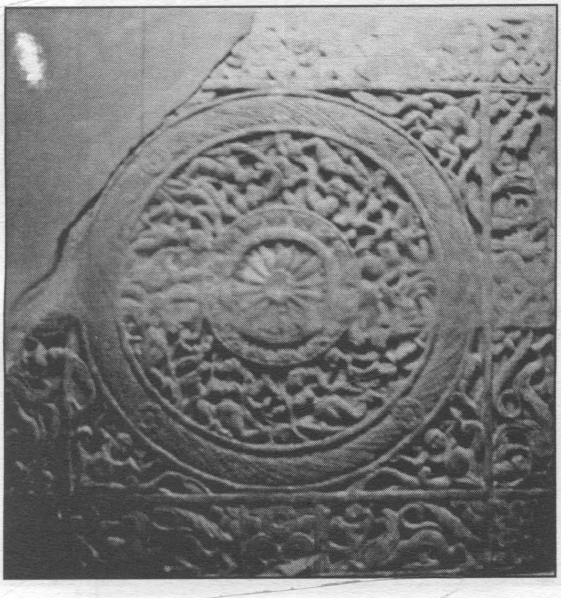

10. जैन अभिलिखित आयागपट्ट, प्रथम शती. ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 248

11. जैन तोरणद्वार, पूर्व-कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा,
उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 567

12. जैन तोरणद्वार (सामने का दृश्य) पूर्व-कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा,
उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 535

13. जैन तीर्थंकर नेमिनाथ, कुषाण काल, अज्ञात, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. 34.2488

14. तीर्थंकर अरिष्टनेमि, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र., राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 8

15. तीर्थंकर नेमिनाथ, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 117

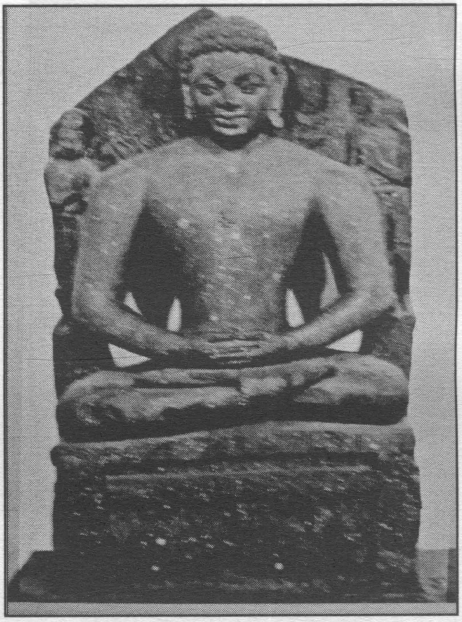

16. तीर्थंकर नेमिनाथ, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 6

17. अभिलिखित जैन मूर्ति, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 623

18. जैन मंगल प्रतीक-त्रिरत्न, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 659

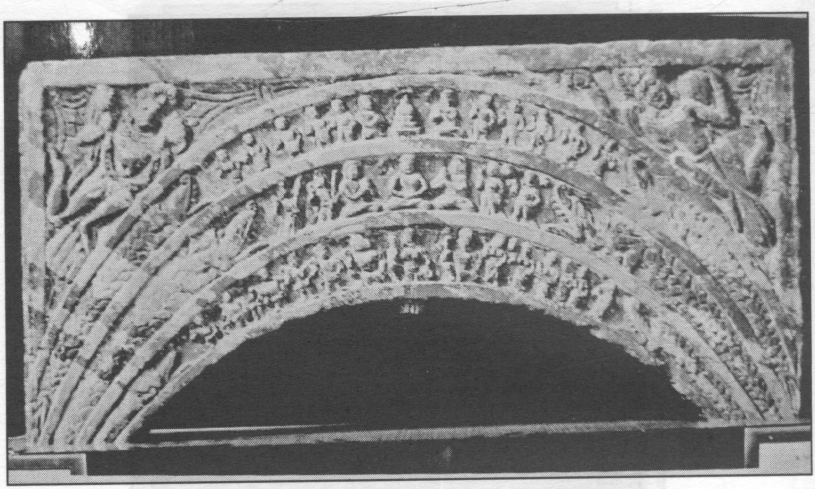

19. जैन स्थापत्य खण्ड, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ सं. बी. 207

20. ध्यानस्थ तीर्थंकर, कुषाण काल, अज्ञात, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, OOB.63

21. हरिनैगमेष, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र. राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. 2547

22. जैन तीर्थंकर, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 15

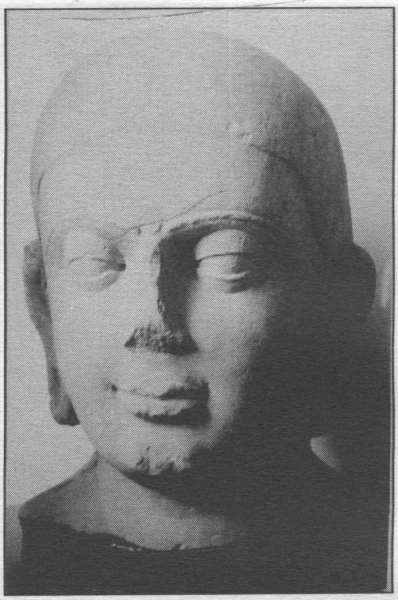

23. जैन तीर्थंकर का मस्तक, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 194

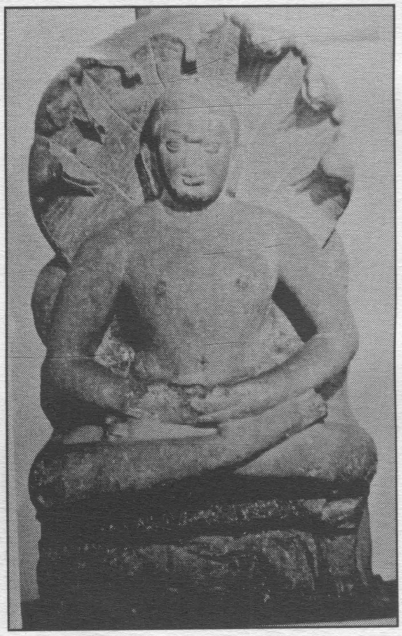

24. अभिलिखित पार्श्वनाथ प्रतिमा, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. 39

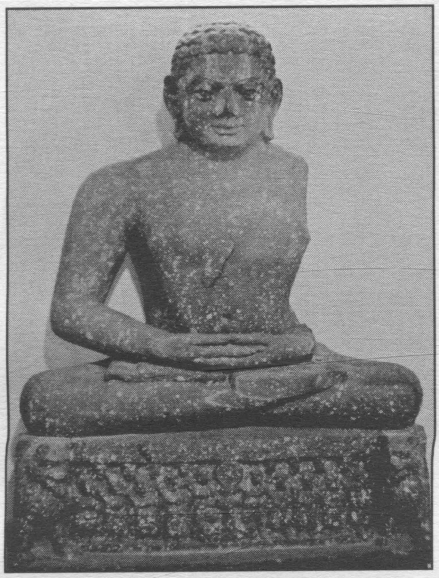

25. जैन तीर्थंकर, कुषाणकाल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 686

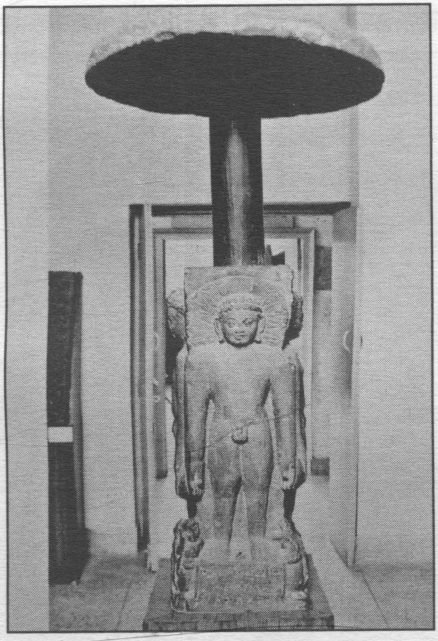

26. छत्रयुक्त जैन सर्वतो भद्रिका, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 235

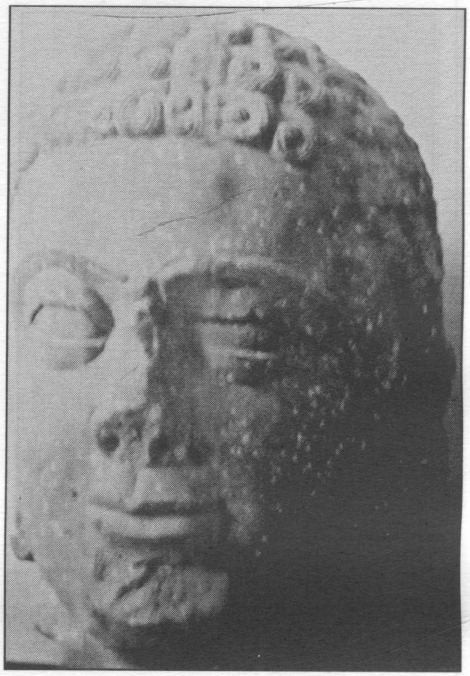

27. तीर्थंकर मस्तक, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 172

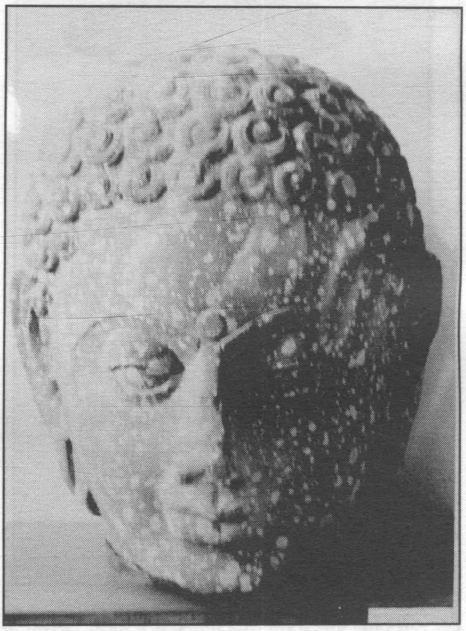

28. तीर्थंकर मस्तक, कुषाणकाल, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 169

29. अभिलिखित जैन सर्वतोभद्रिका, कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 230

30. पार्श्वनाथ मस्तक, कुषाण काल, मथुरा, उ. प्र., राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 96

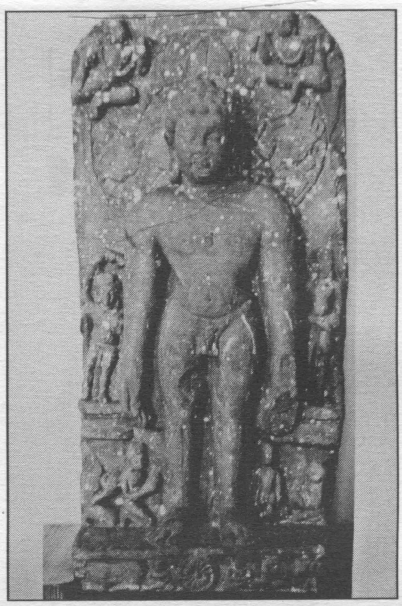

31. तीर्थंकर नेमिनाथ, 5वीं. शती. ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 121

32. ध्यानस्थ तीर्थंकर, 5वीं शती ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 118

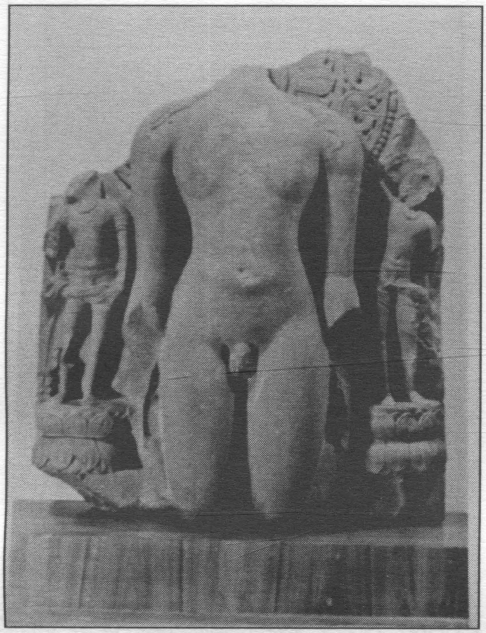

33. जैन तीर्थंकर, ऋषभनाथ, गुप्तकाल, अज्ञात, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. OOB.33

34. जैन तीर्थंकर, ऋषभनाथ, गुप्तकाल, कंकाली टीला, मथुरा, राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. 12.268

35. तीर्थंकर ऋषभनाथ, गुप्तकाल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. OOB.24

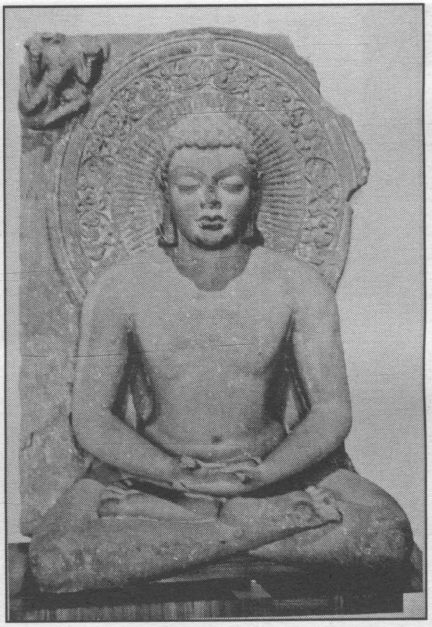

36. ध्यानस्थ तीर्थंकर, गुप्तकाल, कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 104

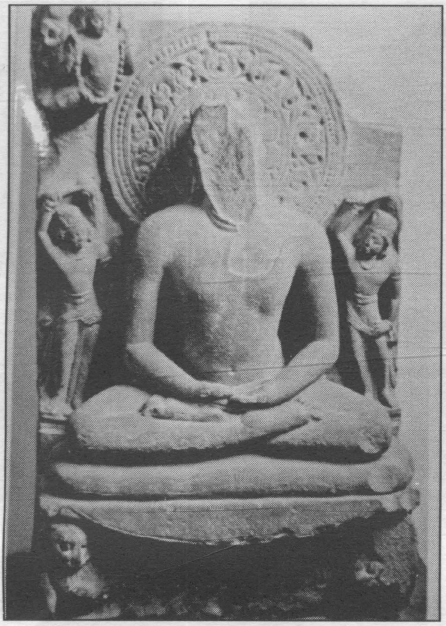

37. ध्यानस्थ तीर्थंकर, 5वीं शती ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 119

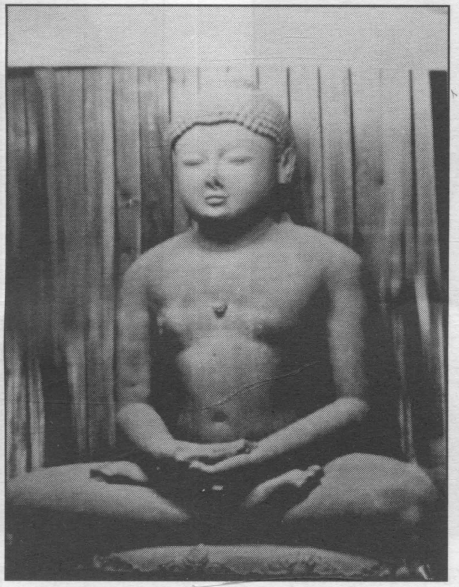

38. अभिलिखित पार्श्वनाथ प्रतिमा, 981 ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 143

39. तीर्थंकर पार्श्वनाथ, 1014 ई. शती. कागारोल (आगरा), उ. प्र. राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. 40.2874

40. अभिलिखित ध्यानस्थ सर्वतोभद्रिका, 11वीं. शती. ई., कंकाली टीला, मथुरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 236

41. तीर्थंकर नेमिनाथ, 12वीं शती. ई., मथुरा, उ. प्र. राजकीय संग्रहालय, मथुरा, सं. OO.B77

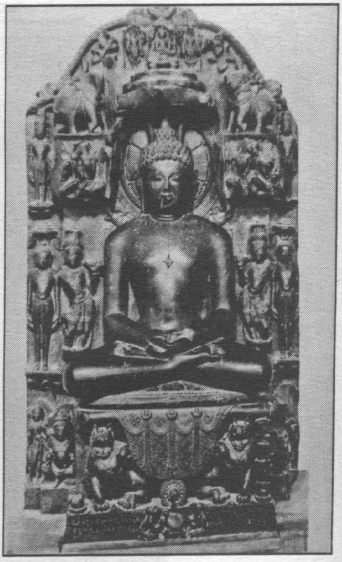

42. तीर्थंकर मुनिसुब्रतनाथ, 12वीं शती. ई. आगरा, उ. प्र. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, सं. जे. 776

डॉ. संगीता सिंह : जन्म 5 अप्रैल 1981 ई. कानपुर में, परन्तु मूलतः गोरखपुर से सम्बन्धित।

शिक्षा : बी. ए., 2000 में, एम. ए. 2002 में इतिहास विषय में उत्तीर्ण किया, कानपुर विश्वविद्यालय से हाई स्कूल से लेकर एम. ए. तक सभी परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी प्राप्त किया है। जून 2005 ई. में यू. जी. सी., नेट उत्तीर्ण किया। 2006 में जामिया-तुत-तैयबात, कानपुर से उर्दू में एक वर्षीय डिप्लोमा कोर्स किया है। जून 2008 ई. में छत्रपति शाहू जी महाराज, कानपुर विश्वविद्यालय से इतिहास विषय में शोध की उपाधि (पी-एच.डी.) प्राप्त किया। अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर अनेक शोध-पत्र प्रस्तुत किया है। साथ ही अनेक राष्ट्रीय कार्यशालाओं में भी सहभागिता किया है। दस शोध-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक प्रकाशाधीन हैं।

स्थाई पता : म. न. 11, जय नगर कॉलोनी, गिलट बाजार, वाराणसी-221002, यू. पी., भारत (निकट —यू. पी. कॉलेज)

सम्प्रति : शिव दुलारी देवी महिला महाविद्यालय, कुशीनगर, उ. प्र. में प्रवक्ता।

Price : ₹ 495/-

ISBN: 978-81-89131-89-0

9 788189 131890

RESEARCH INDIA PRESS

E-6/34, Ist Floor, Sangam Vihar
New Delhi-110 062
Phone : 011-26047013
Mobile : 9818085794
E-mail: researchindiapress@gmail.com